विषय सूची

५. पुराणों में मूर्त्तिपूजा

सिद्धान्त—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

अर्थ—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीर से रहित, छिद्ररहित और छेद न किये जाने योग्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और पापमुक्त, जो पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नहीं होता वह सब ओर व्याप्त है। जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला और अनादिस्वरूप, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश, माता-पिता, गर्भवास, जन्म-वृद्धि और मरण नहीं होते वह परमात्मा, सनातन, अनादिस्वरूप, अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित प्रजाओं के लिए यथार्थभाव से वेद द्वारा सब पदार्थों को विशेषकर बनाता है, वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने योग्य है।

परिणाम—इस वेदमन्त्र में स्पष्ट शब्दों में परमात्मा को शरीर-रहित, नस और नाड़ी के बन्धन से रहित बताया गया है।

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्नजातऽइत्येषः॥ —यजुः० ३२।३

अर्थ—हे मनुष्यो! जिसका पूज्य, बड़ा कीर्ति करनेहारा, धर्मयुक्त कर्म का आचरण ही नामस्मरण है, जो सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थों का आधार—इस प्रकार अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष जिसकी 'वह मुझे मत ताड़ना दे वा वह अपने से मुझे विमुख मत करे'—इस प्रकार यह प्रार्थना वा बुद्धि और जिस कारण नहीं उत्पन्न हुआ, इस प्रकार यह परमात्मा उपासना के योग्य है। उस परमेश्वर की प्रतिमा—परिमाण, उसके तुल्य अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति वा आकृति नहीं है।

परिणाम—इस मन्त्र में स्पष्टरूप में कहा गया है कि परमात्मा का माप-तोल, प्रतिकृति, आकृति, मूर्त्ति आदि नहीं है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥

—यजुः० ४०।९

अर्थ—जो लोग परमेश्वर को छोड़कर अनादि, अनुत्पन्न प्रकृति की उपासना करते हैं वे अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो लोग उत्पन्न हुए स्थूलजगत् के पदार्थों की परमात्मा के स्थान पर पूजा करते हैं, वे निश्चय ही उससे भी अधिक अन्धकार में गिरते हैं।

परिणाम—इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में वर्णन है कि जो लोग परमात्मा के स्थान पर प्रकृति या प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ईंट, पत्थर, लकड़ी, धातु आदि की पूजा करते हैं, वे अन्धकाररूप नरक में गिरते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों से स्पष्ट प्रकट है कि परमात्मा शरीर-रहित है, उसकी कोई मूर्त्ति नहीं बन सकती और परमात्मा के स्थान पर अन्य वस्तुओं की पूजा करनेवाला नरक में जाता है। चूँकि पुराणों में परमात्मा के स्थान पर गणेश, शालिग्राम और शिवलिङ्ग आदि की मूर्त्तियों की पूजा करने की आज्ञा है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:०:—

पोपजी—पाठकगण! लाला साहब ने जो वेद के तीन प्रमाणों से ईश्वर की मूर्त्तिपूजा का निषेध बतलाया है, यह लाला साहब के उस पाण्डित्य का प्रमाण है, जिसके लिए शेख सादी ने लिखा है कि **'चारपाये बरओ किताबे चन्द, न मुहक्क़िक़ शुद न दानिशमन्द।'**[1]

तोपजी—हमने मूर्त्तिपूजा के खण्डन में यजुर्वेद के तीन मन्त्र प्रस्तुत किये हैं, वे इतने प्रबल हैं कि जिनका खण्डन आप और आपके दादागुरु भी सात जन्म में नहीं कर सकते। हमारे और आपके पाण्डित्य के मुक़ाबले का तो तब पता लगता यदि आप इन मन्त्रों का अर्थ कुछ और करके दिखाते, परन्तु अर्थ करना खालाजी का घर नहीं है। अर्थ करने के लिए पाण्डित्य और योग्यता की आवश्यकता है, परन्तु वह आपसे इतनी ही दूर है जितने गधे के सिर से सींग। आप लोग क्या जानें कि वेद के अर्थ कैसे होते हैं? आप तो निरुक्त में लिखे अनुसार केवल बोझ उठानेवाले स्तम्भ (खम्भे) ही हैं। वेद के अर्थों के आनन्द को आर्यसमाजी ही लूटते हैं। सुनिए, निरुक्त क्या कहता है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधित्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—निरुक्त १.१८

अर्थ—वह केवल बोझ उठानेवाला स्तम्भ है जो वेद को पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता। जो अर्थ जाननेवाला है, वह इस लोक में सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त होता है और पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में जाता है।

पोपजी—इन मन्त्रों में भगवान् के साकाररूप और मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं है। इन मन्त्रों का अर्थ न लिखकर लाला साहब ने केवल मन्त्रों का भाव ही लिखा है, जिसका पूर्णरूप से खण्डन मैंने 'सनातनधर्मशिक्षक' नामक हिन्दी की पुस्तक में किया है।

तोपजी—यदि इन मन्त्रों में परमात्मा के साकार होने का वर्णन है, मूर्त्तिपूजा का खण्डन नहीं है और हमारा भावार्थ ग़लत है तो आपको मन्त्रों के अर्थ करके जनता के समक्ष रखने चाहिएँ थे। क्या विचित्र चालाकी है—हमारे प्रश्नों का उत्तर तो दे रहे हैं 'सनातनधर्म-विजय' उर्दू की पुस्तक में और मन्त्रों का अर्थ कर दिया है 'सनातनधर्म शिक्षक' नाम की हिन्दी पुस्तक में। उत्तर देने की विधि भी यही है! स्पष्ट क्यों नहीं मान लेते कि इन मन्त्रों का और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता? आपने जो बात इस पुस्तक में उड़ाई है, वैसी ही उस पुस्तक में उड़ाई होगी। हाँ, यह ठीक है कि अपनी पुस्तक का विज्ञापन इस पुस्तक में अवश्य दे दिया, जिससे जनता इस पुस्तक की ग्राहक बन सके। श्रीमन्! इस पुस्तक में उद्धृत किये गये यजुर्वेद के तीनों मन्त्रों में परमात्मा के साकार होने का तथा मूर्त्तिपूजा का खण्डन स्पष्ट शब्दों में विद्यमान है। पहले मन्त्र में **'अकायम्'** शरीररहित और **'अस्नाविरम्'** नस-नाड़ियों के बन्धन से मुक्त—ये दोनों गुणवाचक शब्द परमात्मा के साकार होने का खण्डन करते हैं और दूसरे मन्त्र में '**न तस्य प्रतिमाऽअस्ति**—उस परमात्मा की मूर्त्ति नहीं है' इन शब्दों में परमात्मा की मूर्त्ति होने का खण्डन विद्यमान है और तीसरे मन्त्र में '**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते**—वे लोग अन्धकार में गिरते हैं, जो परमात्मा के स्थान पर प्रकृति की पूजा करते हैं'—स्पष्ट शब्दों में मूर्त्तिपूजा करनेवाले को नरकगामी बताया है। इस मन्त्र से अधिक स्पष्ट खण्डन और क्या हो सकता है?

पोपजी—परन्तु यहाँ मैं केवल इतना ही लिखना चाहता हूँ कि लाला साहब! सनातनधर्मी ईश्वर को निराकार और साकार दो प्रकार का मानते हैं। वेदों के कुछ मन्त्रों में भगवान्

---

१. कुछ पुस्तकें पढ़कर चौपाये ही रहे, न तो दार्शनिक ही बने और न बुद्धिमान्। —सम्पादक

के निराकार होने का वर्णन हो भी, तो इससे सनातनधर्म का खण्डन नहीं हो सकता।

तोपजी—किसी पदार्थ में दो समान गुण तो रह सकते हैं, परन्तु दो विरोधी गुण नहीं रह सकते; अतः यह सर्वथा मिथ्या बात है कि परमात्मा निराकार भी हो और साकार भी। हमने परमात्मा के निराकार होने में वेद के प्रमाण दिये थे; आपको परमात्मा के साकार होने के सम्बन्ध में एक-आध प्रमाण तो लिखना चाहिए था, परन्तु लिखते कहाँ से जब वेदों में परमात्मा को साकार कहा ही नहीं गया? और युक्ति से भी परमात्मा का साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि साकार पदार्थ सीमित होता है और उसके गुण-कर्म और स्वभाव भी ससीम ही होते हैं। इससे परमात्मा व्यापक और सृष्टि का कर्त्ता नहीं रह सकेगा, परमात्मा निराकार और सर्वव्यापक होने से ही सृष्टिकर्त्ता है और सनातनधर्म का दावा कि ईश्वर साकार भी है—यह वेद के सर्वथा विरुद्ध तथा बुद्धि और तर्क से रहित है।

पोपजी—दूसरा आपने बतलाया कि प्रकृति की पूजा करनेवाले नरक में जाते हैं। महाशय! आपका बतलाया हुआ नरक भी आर्यसमाजियों के लिए ही हो सकता है, क्योंकि सनातनधर्मी प्रकृतिपूजा नहीं करते, सनातनधर्मी मूर्त्तिपूजा के द्वारा ब्रह्म=परमेश्वर की ही पूजा करते हैं, न कि जड़ मूर्त्ति की।

तोपजी—इससे यह तो सिद्ध हो गया कि आपको हमारा किया हुआ मन्त्र का अर्थ स्वीकार है। अब जो भी प्रकृति-पूजक होगा, नरक उसी के लिए है। शुभ है यदि सनातनधर्मी प्रकृति-पूजा को तिलाञ्जली दे दें; फिर उस अवस्था में मूर्त्तिपूजा की तो आवश्यकता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर मूर्त्ति आदि पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव से विद्यमान है, तदात्मभाव-सम्बन्ध से नहीं, अर्थात् वह सर्वत्र विद्यमान और सर्वद्रष्टा होते हुए भी मूर्त्ति आदि पदार्थों को इस प्रकार से अपना शरीर नहीं मानता जिस प्रकार हम इन्सान अपने शरीर को मानते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार हमें शरीर के द्वारा सुख-दुःख अनुभव होता है, उस प्रकार से ईश्वर को मूर्त्ति आदि पदार्थों के द्वारा सुख-दुःख अनुभव नहीं होता। यदि यह मान लिया जाए कि मूर्त्ति आदि की पूजा से परमात्मा प्रसन्न होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि लकड़ी फाड़ने, कुआँ खोदने, पत्थर तोड़ने आदि से ईश्वर को दुःख भी होता होगा; परन्तु यह ग़लत है, इसलिए मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा बहानामात्र है। यदि आप मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं तो प्राणप्रतिष्ठा, आवाहन, विसर्जन, सुलाना-जगाना, भोग लगाना, पंखा झुलाना आदि-आदि क्यों करते हैं? इससे सिद्ध है कि सनातनधर्मी मूर्त्तिपूजा ही करते हैं, अतः प्रकृति-पूजक हैं और वेद के अनुसार नारकी होंगे। आर्यसमाज तो यह मानता है कि ईश्वर की पूजा हृदय में आत्मा द्वारा ही हो सकती है और इसके लिए उपाय योगाभ्यास है, मूर्त्तिपूजा नहीं है।

पोपजी—परन्तु आर्यसमाजियों के लिए स्वामी दयानन्दजी ने संस्कार-विधि के चूड़ाकर्म-संस्कार में यजुर्वेद अध्याय ३, मन्त्र ६३ में नाई के उस्तरे को शिवरूप मानकर नमस्ते करना लिखा है।

तोपजी—झूठ की भी पराकाष्ठा हो गयी। संस्कार-विधि का चूड़ाकर्म-संस्कार हमारे सामने है। इसमें न तो मन्त्र का अर्थ किया हुआ है और न ही उस्तरे को शिव मानकर नमस्ते करना लिखा है, अपितु संस्कार-विधि में तो यह पाठ इस प्रकार अङ्कित है—

''ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः।''

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।

इसलिए संस्कार-विधि से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना केवल बेहूदापन है।

हाँ, यजुर्वेदभाष्य में स्वामीजी ने इसके जो अर्थ किये हैं, वे ये हैं—"हे जगदीश्वर और उपदेश करनेहारे विद्वन्! जो आप अविनाशी होने से वज्रमय हैं और जिस आपका सुखस्वरूप विज्ञान का देनेवाला नाम है, सो आप मेरे पालन करनेवाले हैं। आपके लिए मेरा सत्कारपूर्वक नमस्कार विदित हो। आप मुझे मत मृत्यु से युक्त कीजिए।" इस अर्थ में भी परमेश्वर और उपदेशक को ही सम्बोधित किया गया है और उन्हें नमस्कार किया गया है। पता नहीं पोपमण्डल को क्या पागलपन समाया है कि वे बिना विचारे ही इस मन्त्र से उस्तरे की पूजा सिद्ध करने के असफल प्रयत्न में लगे रहते हैं।

पोपजी—और वहाँ ही यजुर्वेद अध्याय ४, मन्त्र १ से उस्तरे से प्रार्थना करनी लिखी है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है, इसलिए इस बालक को मत मारना।' और हे ओषधे अर्थात् कुशा! इस बालक की तू रक्षा कर।

तोपजी—संस्कार-विधि में न तो यह लिखा है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है' और न ही यह लिखा है कि 'ओषधे अर्थात् कुशा! इस बालक की तू रक्षा कर।' संस्कार-विधि का पाठ इस प्रकार है—

ओम् ओषधे त्रायस्व एनꣳ मैनꣳ हिꣳ सीः॥ —यजुः० ४।१

इस मन्त्र को बोलके तीन दर्भ लेके दाहिने बाज़ू के समूह को हाथ से दबाके—

ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि। —मं० ब्रा० १।६।४

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखे।

यह है संस्कार-विधि का लेख। इसमें से आप अपना काल्पनिक लेख निकालकर दिखा दें। यहाँ तो केवल मन्त्रों को पढ़कर कार्य करना लिखा है, इसलिए संस्कार-विधि के इस लेख से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना बालू रेत में से तेल निकालने के समान है।

यजुर्वेद के चौथे अध्याय के प्रथम मन्त्र का अर्थ भाष्य में इस प्रकार दिया है कि "हे विद्वन्! जैसे सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगों से रक्षा करता है, वैसे तू भी हम लोगों की रक्षा कर और कभी मत मार।"

दूसरे मन्त्र में "विष्णु नाम यज्ञ का है और दंष्ट्र नाम काटने के साधन का है, जिसका अर्थ है कि उस्तरा यज्ञ में पदार्थों के काटने का साधन है।" इन अर्थों से भी मूर्त्तिपूजा की गन्ध तक भी नहीं आती। प्रतीत होता है कि मूर्त्तिपूजा करते-करते पोपमण्डल की बुद्धि भी पत्थर हो गयी है, जिससे पागलों की भाँति उन्हें सर्वत्र मूर्त्तिपूजा ही दृष्टिगोचर होती है।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र ७० में स्पष्ट आज्ञा दी है कि "हे आर्यलोगो! आप घी, दूध, शहद, शक्कर और फूल आदि से खेत के ढेले तोड़नेवाले पटेले अर्थात् हल की पूजा करो। यह हल तुम्हें घी, दूध आदि देगा।"

तोपजी—हमारे सामने ऋषि दयानन्दजी का यजुर्वेद-भाष्य विद्यमान है। इसमें न तो कहीं हल की पूजा का वर्णन है और न फूलों का नाम व चिह्न है। यह सब पोपजी के घर का आविष्कार है। हाँ, इस वेदमन्त्र में यह अवश्य लिखा है कि जैसे नमक, हड्डी, मछलियाँ, राख, मल, रक्त आदि विशेष-विशेष पौधों की वृद्धि व पोषण के लिए खाद के रूप में भूमि में डाले जाते हैं, वैसे ही विशेष पौधों के पालन-पोषण के लिए जल, दूध, घी, शहद, शक्कर आदि पदार्थों से भूमि को खाद देकर ठीक करो। यहाँ पटेला नाम भूमि में हल से निकाली हुई आड़ (हलाई) का है। यह बात संस्कृत में आये हुए शब्द 'सीता'[१] से बिल्कुल स्पष्ट हो गयी है। अब आप ऋषि दयानन्दजी के भाष्य को तनिक ध्यान से पढ़ें—

१. हल के चलाने से खेत में बनी हुई रेखा, खूड—आप्टे।

पदार्थ—**विश्वै** सब **देवैः** अन्न आदि पदार्थों की इच्छा करनेवाले विद्वान् **मरुद्भिः** मनुष्यों की **अनुमता** आज्ञा से प्राप्त हुआ **ऊर्जस्वती** पराक्रम-सम्बन्धी **पिन्वमाना पयसा** जल वा दुग्ध से सींचा वा सेवन किया हुआ **सीता** पटेला **घृतेन** घी तथा **मधुना** सहत वा शक्कर आदि से **समज्यताम्** संयुक्त किया जाए। **सीते** यह पटेला **अस्मान्** हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा, इस हेतु से **पयसा** जल से **अभ्यावववृत्स्व** बार-बार वर्त्तओ।

भावार्थ—सब विद्वानों को चाहिए कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी, मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को अन्न को सिद्ध करनेवाली करें। जैसे बीजों को सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं, वैसे इस पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें।

कैसा स्पष्ट अर्थ है कि जैसे बीजों को कई-कई प्रकार के पदार्थों से संस्कृत करके सुगन्धित आदि बनाया जाता है, वैसे ही भूमि को भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के खाद से संस्कारयुक्त बनाएँ और इसमें अनेक प्रकार के फूल-फल, अन्न-आदि बोकर सम्पत्तिशाली बनें।

कहिए, इसमें मूर्त्तिपूजा कहाँ से निकलती है? हम पोपजी को डंके की चोट खुला चैलैंज करते हैं कि वे ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों में कहीं भी ईश्वर के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की पूजा दिखाएँ। हमने पोपजी के दिये हुए प्रमाणों की ऊपर अच्छी प्रकार पोल खोल दी है और सिद्ध कर दिया है कि पोपजी के दिये हुए प्रमाणों में पूजा शब्द का भी कहीं नाम व चिह्न तक विद्यमान नहीं है। संस्कार-विधि में केवल वेद के मन्त्रों को पढ़कर संस्कारों की क्रिया करनी लिखी है, न मन्त्रों के अर्थ किये हुए हैं और न ही कहीं पूजा शब्द विद्यमान है। अपने घर से ही कपोलकल्पित अर्थ करके आर्यसमाज पर आक्षेप करना सरासर मूर्खता और बेईमानी है।

यदि इसपर भी आपको सन्तोष न हो तो हम उस्तरा, कुशा, हल आदि को मैदान में रखकर उनके जूते मारते हैं और आप शालिग्राम, शिवलिङ्ग, गणेश आदि मूर्त्तियों को मैदान में रखकर जूते मारें। इससे स्वयं पता लग जाएगा कि जड़पूजक कौन हैं? इसलिए यह स्पष्ट सिद्ध है कि आर्यसमाज में जड़पूजा नहीं है, अपितु यह जड़पूजा सनातनधर्म में ही है और वेद के आदेश के अनुसार वे नारकी बनने के अधिकारी हैं।

पोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद अध्याय ५, मन्त्र १९ में दो हाथोंवाला ईश्वर माना है।

तोपजी—कैसा सफेद झूठ है! क्या इन्हीं धोखेबाज़ियों से मूर्त्तिपूजा स्थिर रहेगी? मन्त्र में तो लिखा है कि—"हे ईश्वर! तू हमारे दोनों हाथों को धन से पूर्ण कर दे" और पोपजी ईश्वर को दोनों हाथोंवाला बताकर स्वामीजी पर दोषारोपण के कलुषित प्रयत्न में संलग्न है। हम पोपजी को डंके की चोट से चैलैञ्ज करते हैं कि वे स्वामीजी के भाष्य से अपने मनमाने शब्द निकालकर दिखलाएँ, अन्यथा इस झूठ का प्रायश्चित्त करने के लिए चुल्लूभर पानी में नाक डूबोकर डूब मरें।

पोपजी—वेदभाष्यकार पं० राजारामजी, प्रोफैसर डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर, ने बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप माने हैं—एक साकार और दूसरा निराकार।

तोपजी—'अन्धी देवी के गंजे पुजारी।' जैसे आप वैसे ही आपके साक्षी। तनिक पुस्तक खोलकर व्याख्या को देख तो लेना चाहिए था कि वहाँ पर ब्रह्म परमात्मा का नाम है या प्रकृति से बने हुए जगत् का नाम है। लीजिए, हम उपनिषद् का मूलपाठ उद्धृत कर देते हैं। वहाँ लिखा है कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च॥ १ ॥
तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च॥ २ ॥
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च ॥ ३ ॥ —बृहदा० २.३.१-३

अर्थ—उपादानकारण प्रकृति से निमित्तकारण ब्रह्म ने जो जगत् उत्पन्न (प्रकट) किया है, उसके दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार॥१॥ वह यह साकार है जोकि वायु और आकाश से पृथक् है अर्थात् भूमि, जल और अग्नि॥२॥ और निराकार वायु और आकाश हैं॥३॥

अब कहिए पोपजी महाराज! क्या इसी प्रमाण पर मूर्त्तिपूजा की आधारशिला रक्खी हुई थी, जो व्याख्या के सामने आते ही धड़ाम से गिर पड़ी? अब और कोई प्रमाण ढूँढ़कर लाएँ, क्योंकि जो दो रूप साकार और निराकार इसमें वर्णित किये गये हैं, वे प्राकृतिक जगत् के ही हो सकते हैं, परमात्मा के नहीं हो सकते।

पोपजी—इतना ही नहीं, अपितु पण्डितजी ने निरुक्त के अन्त में ऋग्वेद के मन्त्र का भाष्य करते हुए ईश्वर को तीन आँखोंवाला बताया है।

तोपजी—वाह महाराज! आपने तो मूर्त्तिपूजा को साक्षात् प्रत्यक्ष करके ही दिखा दिया। क्यों न हो! लज्जा तो नहीं आती होगी? क्या प्रमाण देने का यही ढङ्ग है? जब निरुक्त में काण्ड, अध्याय, खण्ड विद्यमान हैं तो आपने मन्त्र का प्रमाण क्यों नहीं दिया? अजी देते तो तब जब कहीं मूर्त्तिपूजा का प्रमाण मिलता। जब चारों वेदों में एक भी प्रमाण मूर्त्तिपूजा का समर्थन करनेवाला विद्यमान नहीं है तो सिवाय गप्पाष्टकबाजी के और पोपमण्डल कर भी क्या सकता है? क्योंकि पोपजी के सारे ही प्रमाण सर्वथा मिथ्या और मार्गभ्रष्ट करनेवाले हैं, इसलिए सिद्ध हुआ कि ईश्वर निराकार है और उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती और मूर्त्तिपूजक निश्चय ही नरकगामी होगा।

पोपजी—अथर्ववेद ५।१०।७ तथा ७।१९।२ में, यजुर्वेद ३६।१९ में मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करना और उससे प्रार्थना करना लिखा है तो यह कहना कि पुराणों में चूँकि शालिग्राम आदि में ईश्वर की पूजा लिखी है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, यह कहाँ तक ठीक माना जा सकता है?

तोपजी—आप जिस प्रकार के प्रमाण देने के अभ्यस्त हैं, उससे हम भली-भाँति परिचित हैं। जैसे आपके पिछले सब प्रमाणों की पोल सामने आ गयी, वैसे ही इन प्रमाणों की परीक्षा भी अभी हो जाती है—

१. सर्वप्रथम अथर्ववेद के ५।१०।७ मन्त्र को ले-लीजिए। इसमें अपने कवच की दृढ़ता का उपदेश है, तनिक ध्यानपूर्वक पढ़िए—

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभि दासात्। एतत् स ऋच्छात्॥
—अथर्व० ५।१०।७

अर्थ—यह मेरा कवच पत्थर की भाँति दृढ़ है, जो कोई मुझे दिशाओं के मध्य के कोनों से मारना चाहे, वह स्वयं मरे।

इस मन्त्र में यह उपदेश है कि जो मनुष्य पत्थर के समान दृढ़ कवच रखता है, उसे जो मारने के लिए आता है, वह स्वयं मर रहता है। बतलाइए, इसमें मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा और प्रार्थना का वर्णन कहाँ है?

२. अब अपने दूसरे मन्त्र की ओर ध्यान दें जोकि अथर्ववेद का ७।१९।२ मन्त्र है। इस मन्त्र में अन्न उत्पन्न करने का प्रकार और ऋतु का वर्णन है—

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्॥

—अथर्व० ७।१९।२

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु का प्रचण्ड सूर्य जब पृथिवी को अधिक न तपा रहा हो और जब हिम=शरद् ऋतु भी नहीं मारती, तब यह पृथिवी खेतों में जीवन देनेवाले अन्न का दान देती है। तभी यह उत्तम प्रकार से तैयार की जाए और तभी जल की धाराएँ भी इस भूमि के स्वामी को घृत, आयु और पौष्टिक अन्न ही मानो बहाती हैं। ठीक भी है, जहाँ पानी बरसानेवाला बादल बरसता है, वहाँ सदा ही सुख होता है।

बताइए, इस मन्त्र का मूर्त्तिपूजा के द्वारा ईश्वर की पूजा या प्रार्थना से क्या सम्बन्ध है?

३. अब आप तीसरे मन्त्र (यजुः० ३६.१९) का भी अवलोकन करें—

दृते दृꣳह मा ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्॥ —यजु० ३६।१९

अर्थ—हे समग्र मोह के आवरण का नाश करनेहारे उपदेशक, विद्वन् वा परमेश्वर! जिससे मैं आपके सम्यक् देखने वा ज्ञान में निरन्तर जीऊँ। आपके सम्यग् दर्शन में निरन्तर उत्तम जीवन व्यतीत करूँ, उस जीवन के विषय में मुझे दृढ़ कीजिए।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा पालने और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष तक जीने का प्रयत्न करें।

इस मन्त्र में भी ईश्वर की आज्ञा-अनुसार जीवन व्यतीत करने का उपदेश है। मूर्तिपूजा के द्वारा ईश्वर की पूजा और प्रार्थना का इस मन्त्र में नाम व चिह्न भी नहीं है।

प्रतीत होता है कि पोपजी जनता को धोखा देने के लिए पुस्तकों को बिना देखे ही वेदों के नाम और उनके काण्ड तथा अध्यायों और मन्त्रों की संख्या लिख देते हैं, परन्तु इन छल-कपटों से मूर्त्तिपूजा का वेदानुकूल सिद्ध होना सर्वथा असम्भव है। चूँकि मूर्तिपूजा वेदों के विरुद्ध है और पुराणों में मूर्त्तिपूजा की शिक्षा विद्यमान है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

पोपजी—लाला मनसारामजी ने शिवपुराण की कथा को मनमाने ढङ्ग से लिखकर शिवलिङ्ग का उपहास उड़ाने का व्यर्थ प्रयत्न किया है।

तोपजी—हम आर्यसमाज के प्रतिष्ठित उपदेशक हैं और अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझते हैं, अतः हमने अपनी पुस्तक में एक भी बात बिना प्रमाण के नहीं लिखी। यह काम [बिना प्रमाण लिखना] सनातनधर्म के उपदेशकों का है कि वे अपने उत्तरदायित्व का अनुभव न करते हुए निराधार, मिथ्या बातें, बिना प्रमाण अपनी पुस्तकों में लिख देते हैं। जैसाकि आपने स्थान-स्थान पर अपनी पुस्तक में झूठे और ग़लत प्रमाण और पते देकर उत्तरदायित्वहीनता का प्रमाण दिया है। हमने शिवपुराण की कथा बिल्कुल ठीक दी है। यदि आपको विश्वास न हो तो शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता अध्याय १२ में देखें, वहाँ इस प्रकार लिखा है—

"पूर्व समय में दारु वन में ब्राह्मणों के साथ जो वृत्तान्त हुआ उसे ध्यानपूर्वक सुनें, मैं कहता हूँ। दारु वन में ऋषि लोग अपनी पत्नियों समेत रहते थे। वे शिव की भक्ति किया करते थे। एक बार सब ऋषि लोग लकड़ियाँ लेने जङ्गल में चले गये। उनकी स्त्रियाँ अकेली रह गयीं। तब—

एतस्मिन्नन्तरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः। विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः॥ ९॥
दिगम्बरोऽतितेजस्वी भूतिभूषणभूषितः। स चेष्टामकरोद्दुष्टां हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥ १०॥

अर्थ—इतने में ही साक्षात् महादेवजी विकृत रूप बनाकर परीक्षा के लिए आ गये। बिल्कुल नङ्ग-धड़ङ्ग, अत्यन्त तेजस्वी शरीर पर भस्म रमाये हुए वह महादेवजी **लिङ्ग हाथ में पकड़कर** दुष्ट चेष्टाएँ करने लगे।

इसे देखकर ऋषियों की स्त्रियाँ अत्यन्त भयभीत हो गयीं, फिर चकित तथा व्याकुल होकर इसके पास आ गयीं—

आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथापराः। परस्परं तु संघर्षात्सम्मग्नास्ताः स्त्रियस्तदा॥ १३॥
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्। विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः॥ १४॥
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथाऽब्रुवन्। समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिताः॥ १५॥
यदा च नोक्तवान् किञ्चित्सोऽवधूतो दिगम्बरः। ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः॥ १६॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्। ततस्त्वदीयं तल्लिङ्गं पततां पृथिवीतले॥ १७॥
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिङ्गं च पतितं क्षणात्। अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः॥ १८॥
तल्लिङ्गं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरा स्थितम्। यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः॥ १९॥

अर्थ—बहुत-सी स्त्रियाँ उसे छाती से लगाने लगीं, बहुत-सी हाथ में पकड़ने लगीं। आपस की रगड़-पट्टी से तब वे स्त्रियाँ मस्त हो गयीं॥१३॥ इसी समय वे ऋषि लोग आ गये। वे उसकी असभ्यता को देखकर दुःखी और अत्यन्त क्रुद्ध हुए॥१४॥ और दुःखी होकर कहने लगे यह कौन है—यह कौन है? शिव की माया से मोहित होकर ऋषि यूँ कोलाहल करने लगे॥१५॥ जब वह नङ्ग-धड़ङ्ग अवधूत कुछ भी न बोला, तब वे ऋषि उस भयङ्कर व्यक्ति से बोले॥१६॥ क्योंकि तू वेद के विरुद्ध, धर्म का लोप करनेवाला, असभ्यता का काम कर रहा है, अतः तेरा यह लिङ्ग कटकर भूमि पर गिर पड़े॥१७॥ तब ऋषियों के ऐसा कहते ही उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिङ्ग तुरन्त पृथिवी पर गिर पड़ा॥१८॥ वह लिङ्ग जो कुछ सामने आया उसे अग्नि की भाँति जलाने लगा। जहाँ-जहाँ वह जाता था, वहाँ-वहाँ सब-कुछ जला देता था।

वह लिङ्ग पाताल, स्वर्ग और पृथिवी पर दौड़ता फिरता था, परन्तु कहीं पर स्थिर न होता था। सम्पूर्ण संसार व्याकुल हो गया और ऋषि लोग दुःखी होकर देवताओंसहित ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने प्रणाम करके सारा वृत्तान्त ब्रह्मा को सुनाया। ब्रह्मा उनकी बात को सुनकर बोले कि तुमने ग़ज़ब कर दिया जो महादेव-जैसे अतिथि का सत्कार नहीं किया। जब तक यह लिङ्ग स्थापित न होगा तब तक तीनों लोकों में शान्ति स्थापित नहीं होगी। मैं तुम्हें लिङ्ग को स्थापित करने का उपाय बताता हूँ—

आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्। योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत्॥ ३२॥
इत्युक्तास्ते द्विजा देवाः प्रणिपत्य पितामहम्। शिवं तं शरणं प्राप्ताः सर्वलोकसुखेप्सया॥ ४३॥
पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तदा। सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः॥ ४४॥
हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः शृणुतादरात्। योनिरूपेण मल्लिङ्गं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम्॥ ४५॥
पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा। तया धृतं च मल्लिङ्गं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥ ४६॥
तच्छ्रुत्वा ऋषिभिर्देवैस्सुप्रसन्नैर्मुनीश्वराः। गृहीत्वा चैव ब्रह्माणं गिरिजां प्रार्थिता तदा॥ ४७॥
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च। पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिङ्गमुत्तमम्॥ ४८॥

अर्थ—हे देवताओ! पार्वती को प्रसन्न करके शिव की प्रार्थना करो। यदि पार्वती योनिरूप से तैयार हो जाए तब यह लिङ्ग स्थिर हो जाए॥३२॥ यह सुनकर ब्राह्मण और देवता ब्रह्मा को प्रणाम करके सारे संसार के सुख के लिए शिवजी की शरण में आ गये॥४३॥ तब परम भक्ति से पूजे हुए और प्रार्थना किये हुए महादेवजी प्रसन्न होकर उनसे बोले॥४४॥

हे देवताओ! हे ऋषियो! मेरी बात को आदर से सुनो। यदि मेरा लिङ्ग योनि में स्थापित हो जाए तब सुख हो सकता है।।४५।। पार्वती के बिना और कोई स्त्री मेरे लिङ्ग को धारण नहीं कर सकती। उससे धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त हो जाएगा।।४६।। यह सुनकर ऋषि और देवताओं ने प्रसन्न होकर, ब्रह्मा को साथ में लेकर तब पार्वती की प्रार्थना की।।४७।। पार्वती को प्रसन्न करके और महादेवजी को भी प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि से उत्तम लिङ्ग को स्थापित किया गया।''

यह है वह कथा जो शिवपुराण में विद्यमान है। अब इसके सम्बन्ध में कहिए क्या कहते हैं?

पोपजी—शिवपुराण में कहीं भी ऋषियों की स्त्रियों का लिङ्ग से लिपटने और लिङ्ग को छाती से लगाने का वर्णन तक नहीं और न ही वहाँ लाला साहब के लिखने के अनुसार लिङ्ग और योनि शब्द से मूत्रेन्द्रिय का ही वर्णन है।

तोपजी—क्यों कुफ्र (अधर्म) तोलने का ठेका लिया है? क्यों झूठ बोलकर आत्मा की हत्या करते हो? परमात्मा से डरो और जनता को भ्रष्ट मत करो! शिवपुराण में स्पष्ट लिखा है कि '**आलिलिंगुस्तथा च**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग का आलिङ्गन करने लगीं। आलिङ्गन का अर्थ गले मिलना है, जिसमें लिपटना और छाती से लगाना दोनों सम्मिलित हैं; और फिर इसके अतिरिक्त लिखा है कि '**करं धृत्वा तथा**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग को हाथ में पकड़ती थीं और '**संघर्षात्संमग्नाः**'—वे स्त्रियाँ लिङ्ग के साथ रगड़ा-रगड़ी से मस्त हो रही थीं। शिवपुराण में केवल लिपटने और छाती से लगाने का ही वर्णन नहीं अपितु हाथ से पकड़ने और लिङ्ग के साथ रगड़ा खाने का वर्णन भी विद्यमान है। इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकते, क्योंकि '**दिगम्बरः**' महादेवजी का सर्वथा नङ्ग-धड़ङ्ग होना, '**स चेष्टामकरोद् दुष्टाम्**' महादेवजी का अश्लील चेष्टाएँ करना, '**विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा**'—ऋषियों का उसे सभ्यता के विरुद्ध देखना और '**त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्**'—तू जो सभ्यता के विरुद्ध कर रहा है तेरा यह कर्म वैदिक धर्म का लोप करनेवाला है—ऋषियों का यह कहना इस बात को सिद्ध करता है कि '**हस्ते लिङ्गं विधारयन्**' का यही अर्थ है कि महादेवजी ने नङ्गे होकर मूत्रेन्द्रिय को ही हाथ में पकड़ रक्खा था और 'ब्रह्मा का यह कहना कि पार्वती की प्रार्थना करो कि वह योनिरूप हो जाए तब लिङ्ग उसमें स्थिर होगा तथा महादेव का यह कहना कि मेरे लिङ्ग को पार्वती के बिना और कोई स्त्री धारण नहीं कर सकती और पार्वती से धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त होगा' सिद्ध करता है कि पार्वती की योनि में महादेवजी की मूत्रेन्द्रिय के स्थापित हो जाने से ही इसके शान्त होने का वर्णन है, अतः श्रीमन्! इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि का अर्थ सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और कुछ हो ही नहीं सकता।

पोपजी—वहाँ यह कथा इस प्रकार लिखी है कि अवधूतरूप महादेव (असभ्यतापूर्ण रूप बनाकर) दिगम्बर (सर्वथा नङ्ग-धड़ङ्ग) भस्म रमाये हुए, भयङ्कर आकृति से (अश्लील चेष्टाएँ करते हुए) अपने परम भक्त ऋषियों की परीक्षा लेने के लिए अपने हाथ में **ज्योतिर्मय** लिङ्ग पकड़कर दारु वन में गये। ऋषि लोग वहाँ उपस्थित नहीं थे। ऋषियों की स्त्रियाँ उनके अवधूत रूप और **ज्योतिर्मयलिंग के प्रकाश** से भयभीत हो गयीं। (फिर वापस आकर इसके साथ लिपट गयीं और इसे छाती से लगाया और इसके साथ रगड़ा-रगड़ी से मस्त हो गयीं)। इतने में ऋषि भी आ गये। वे भी इनके **भयङ्कर रूप को देखकर अत्यन्त चकित हुए** (ऋषि उसके असभ्य रूप को देखकर बहुत दुःखी और क्रुद्ध हुए) और पूछने लगे कि **इतने प्रकाशवाला अवधूतरूप** तू कौन है? परन्तु महादेवजी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इसपर क्रुद्ध होकर ऋषियों ने शाप दिया कि (चूँकि तेरा यह सभ्यता के विरुद्ध कर्म वेदमार्ग का लोप करनेवाला है, इसलिए) यह तेरा **प्रकाशरूप लिङ्ग** पृथिवी पर गिर जाए (यह कहते ही इस महादेव का लिङ्ग पृथिवी पर गिर पड़ा) **लिङ्ग पृथिवी पर गिरते ही पाताल से स्वर्ग तक फैल गया।** (इस लिङ्ग ने अग्नि की भाँति जो कुछ सामने आया उसे जला दिया और जहाँ जाता था सब-कुछ जला देता था) और **तेजरूप लिङ्ग ऋषियों को तपाने लगा** (वह लिङ्ग स्वर्ग और पाताल में गया और पृथिवी पर भी गया, परन्तु कहीं भी स्थिर न हुआ। सब लोग व्याकुल हो गये। ऋषि लोग बड़े दुःखी हुए)। **तपिश से और प्रकाश के कारण चकाचौंध होने से** दुःखी हुए-हुए ऋषियों ने ब्रह्मा के पास जाकर पुकार की। ब्रह्मा ने कहा कि तुम लोगों ने अज्ञानता के कारण शिवजी का बड़ा भारी अपराध किया है। अब यदि पार्वती को प्रसन्न करो (और शिव की प्रार्थना करो) और **वह इस तेज को धारण करे** (यदि पार्वती योनिरूप हो जाए, तब यह लिङ्ग उसमें स्थिर हो जाए। जब तक लिङ्ग स्थिर नहीं होगा तब तक तीनों लोकों में शान्ति न होगी) तभी कल्याण हो सकता है। ब्रह्मा से यह सुनकर ऋषि और देवताओं ने महादेवजी को प्रसन्न किया। महादेवजी प्रसन्न होकर बोले—हे ऋषियो! मेरी बात को आदर से सुनो। जब तक मेरा लिङ्ग योनि में स्थिर न होगा तब तक शान्ति नहीं होगी। पार्वती के बिना अन्य कोई स्त्री मेरे लिङ्ग को धारण करने की शक्ति नहीं रखती; पार्वती से धारण किया हुआ मेरा लिङ्ग तुरन्त शान्ति को प्राप्त हो जाएगा (ऋषियों और देवताओं ने महादेवजी की यह बात सुनकर ब्रह्मा को साथ लिया और पार्वती की प्रार्थना की और पार्वती तथा महादेवजी को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि से लिङ्ग को स्थापित किया) परिणामस्वरूप ऐसा ही किया गया।

तोपजी—बलिहारी है इस कतर-ब्योंत (काट-छाँट), मिथ्यावाद, बेईमानी और धोखा देने के! पोपजी ने दोष तो हमपर लगाया है कि हमने शिवपुराण की कथा को मनमाना लिखा है, परन्तु पाठक ध्यानपूर्वक पढ़ें और देखें कि पोपजी ने किस प्रकार काट-छाँटकर तथा अपनी ओर से झूठ मिलावट करके और इस कथा को मनमाने ढङ्ग से लिखकर जनता को पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया है। जो वाक्य मोटे टाइप में मुद्रित हैं उनका शिवपुराण में कहीं नाम और चिह्न भी नहीं है। वह सब पोपजी ने अपनी ओर से कल्पित करके कथा में प्रविष्ट कर दिये हैं और जिन वाक्यों को हमने कोष्ठक में दिया है, इन सबको, शिवपुराण में होने पर भी पोपजी ने अपने अभिप्राय के विरुद्ध देखकर सर्वथा छोड़ दिया है। क्या इस परिवर्तन-परिवर्धन, काट-छाँट से कथा के लिख देने पर भी शिवलिङ्ग की पूजा के कुछ और अर्थ हो सकते हैं? कदापि नहीं।

पोपजी—इस कथा में लिङ्ग से मूत्रेन्द्रिय का तात्पर्य नहीं है। यदि लाला साहबवाला अर्थ होता तो मूत्रेन्द्रिय का पाताल, स्वर्ग तक फैलना और असीम प्रकाशवाला होना सम्भव नहीं हो सकता और न ही काटे बिना उसके पृथिवी पर गिरने की आशा हो सकती है।

तोपजी—शिवपुराण में न तो लिङ्ग के पाताल-स्वर्ग तक फैलने का वर्णन है और न ही उसके असीम प्रकाशवाला होने की चर्चा है। ये दोनों बातें पोपजी के घर के आविष्कार हैं। हाँ, शिवपुराण में यह अवश्य लिखा है कि जो कुछ इसके सामने आता था, वह अग्नि की भाँति उसे जला देता था और पाताल, स्वर्ग तथा पृथिवी पर दौड़ता फिरता था, कहीं स्थिर नहीं होता था।

भला! पुराणों में भी सम्भव और असम्भव का विवेक हो सकता है? यदि पुराणों को सम्भव और असम्भव की कसौटी पर परखा जाए तो पुराणों का अस्तित्व रहना ही असम्भव है, क्योंकि पुराण तो हैं ही असम्भव और बेहूदा बातों का पुलिन्दा (गट्ठर)। जिन पुराणों

में सरस्वती के शाप देने से ही बिना काटे इन्द्र के अण्डकोश झड़कर पृथिवी पर गिर पड़े और जिन पुराणों में सरस्वती के शाप देने से ही ब्रह्मा का पाँचवाँ मुख बिना काटे ही कटकर भूमि पर गिर पड़े और जिन पुराणों में शनिश्चर के देखने से ही गणेश का सिर कटकर पता नहीं कहाँ चला गया, उन पुराणों में ऋषियों के शाप देने से शिवजी का लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) कटकर गिर पड़ना असम्भव कैसे कहा जा सकता है? इसलिए शिवपुराण के इस प्रकरण में लिङ्ग से तात्पर्य मूत्रेन्द्रिय ही है।

पोपजी—मैं पहले भी कई बार लिख चुका हूँ कि लिङ्ग का अभिप्राय चिह्न है। इस कथा में शिवजी ने अपने ज्योतिर्मय लिङ्ग को ही हाथ में पकड़ा हुआ था, जिसका वर्णन शिवपुराण में कई स्थानों पर किया हुआ है।

तोपजी—मैं भी कई स्थानों पर उत्तर दे चुका हूँ कि पुराणों के इन प्रकरणों में लिङ्ग नाम मूत्रेन्द्रिय के चिह्न का ही है। इस कथा में कहीं भी ज्योतिर्मय लिङ्ग का वर्णन नहीं है। यह आपका अपना आविष्कार है। भला! यह तो बतलाएँ कि वह आपका कल्पित ज्योतिर्मय लिङ्ग क्या वस्तु है और उसे हाथ में पकड़ने से शिवपुराण ने इसे दुष्ट चेष्टा क्यों लिखा है? और इस ज्योतिर्मय लिङ्ग को हाथ में पकड़ने को पुराण ने सभ्यता के विरुद्ध और इससे वेद के मार्ग के लोप होने की बात क्यों लिखी है? और फिर वह ज्योतिर्मय लिङ्ग पार्वती की योनि में प्रविष्ट होकर ही क्यों शान्ति प्राप्त करता है? इन सब बातों से सिद्ध होता है कि शिवपुराण में शिवलिङ्ग से यही तात्पर्य है कि महादेवजी ने नङ्गे होकर मूत्रेन्द्रिय को ही हाथ में पकड़कर ऋषि-पत्नियों पर धावा बोला था।

पोपजी—दर्शनशास्त्रों में भी स्थान-स्थान पर लिङ्ग और योनि शब्द का अर्थ कारण ही किया है। सनातनधर्मी इस कारणरूप—ज्योतिर्मयरूप की पूजा किया करते हैं।

तोपजी—दर्शनशास्त्रों में लिङ्ग और योनि शब्द के कुछ और अर्थ हों, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि हम मानते हैं कि संस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु प्रकरण देखकर इस बात का अनुमान लगाया जाता है कि किस प्रकरण में किस शब्द के क्या अर्थ हो सकते हैं। हम पौराणिक मण्डल को डंके की चोट चैलैञ्ज करते हैं कि शिवपुराण के इस प्रकरण में लिङ्ग और योनि शब्द के अर्थ मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कुछ लिये ही नहीं जा सकते और सनातनधर्मी महादेव और पार्वती के मूत्रेन्द्रिय की पूजा करते हैं।

पोपजी—सृष्टि के आदि में मनुस्मृति (१।९) के अनुसार एक अण्डाकार आकृति में ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ था, जिसका प्रकाश सहस्रों सूर्यों से अधिक था और जिसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (१।६) में भी आता है कि इस लिङ्गरूप ब्रह्म की हम लोग पूजा करते हैं। चूँकि यह गोलाकार अण्डा एक अनोखा और अचिन्त्य तेजोमयस्वरूप ब्रह्म था। इसी को शिवमन्दिरों में स्थापित करके पूजा करने की आज्ञा शिवपुराण में दी गयी है, न कि लाला साहब की अभीष्ट मूत्रेन्द्रिय की।

तोपजी—प्रथम तो मनुस्मृति और छान्दोग्य उपनिषद् में लिङ्गरूप ब्रह्म का नाम व चिह्न भी विद्यमान नहीं है और न ही लिङ्गरूप ब्रह्म की पूजा का वर्णन है, अपितु वहाँ तो सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन है; और आगे चलकर लिखा है कि ब्रह्मा ने इस अण्ड के दो भाग किये और उन दोनों भागों से पृथिवी और सौरमण्डल को बनाया। इसके पश्चात् ओषधियाँ और मनुष्य आदि उत्पन्न हुए। इससे पता लगता है कि शिवपुराण में इस गोलाकार ब्रह्माण्ड को शिव-मन्दिरों में स्थापित करके उसकी पूजा का वर्णन नहीं है, अपितु शिवपुराण में तो इसी लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) की पूजा का विधान है कि जिसे महादेवजी नङ्ग-धड़ङ्ग होकर

हाथ में पकड़कर ऋषि-पत्नियों में जा धमके थे और महादेवजी के हाथ में वह गोलाकार ब्रह्माण्ड नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस समय वह गोलाकार ब्रह्माण्ड था, उस समय तो भूमि और मनुष्यों और वनों का नाम व चिह्न भी नहीं था। जब महादेवजी लिङ्ग को हाथ में लेकर गये थे, उस समय, भूमि, वन, मनुष्य आदि सारा संसार विद्यमान था।

भला! यदि मान लिया जाए कि वही ब्रह्माण्ड महादेव के हाथ में था तो फिर महादेवजी किस पर ठहरे हुए थे? तथा ऋषि लोग, दारुवन और ऋषि-पत्नियाँ किस वस्तु पर निवास करते थे? क्योंकि पृथिवी, वन, मनुष्य—ये सब पदार्थ ब्रह्माण्ड के पश्चात् उत्पन्न हुए थे और फिर वह लिङ्ग भूमि, पाताल और स्वर्ग में दौड़ता फिरता था—तो जब भूमि, स्वर्ग और पाताल ब्रह्माण्ड के पश्चात् उत्पन्न हुए तो वह दौड़ता किसपर था और फिर इस ब्रह्माण्ड को पार्वती की योनि में ही शान्ति क्यों मिलती थी? तथा घड़े में छिद्र करके पानी भरकर लिङ्ग पर सदा पानी टपकाना और लिङ्ग के नीचे पार्वती के भग की मूर्त्ति होना—ये सब बातें प्रकट करती हैं कि शिवपुराण में गोलाकार ब्रह्माण्ड की पूजा का वर्णन नहीं, अपितु शिवपुराण में महादेवजी की मूत्रेन्द्रिय लिङ्ग और पार्वती की मूत्रेन्द्रिय भग की ही पूजा का वर्णन है। इसीलिए तो कई-एक पौराणिक स्त्रियाँ पुजारियों की प्रेरणा से सन्तान प्राप्त करने के लिए अपनी भग को महादेवजी के शिवालय में गड़ी हुई मूत्रेन्द्रिय—शिवलिङ्ग के साथ रगड़कर उसे अपवित्र करती रहती हैं। इसलिए इस कथा में प्रकरण-अनुसार लिङ्ग और योनि से शिवपुराण को मूत्रेन्द्रिय की पूजा ही अभीष्ट है।

पोपजी—यह वही ज्योतिर्मय तेज है कि जिसका प्रकाश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को गीता के ग्यारहवें अध्याय में दिखाया था और जिसके प्रकाश से अर्जुन-जैसा वीर भी काँप रहा था। ऋषि डर से भागते थे और मुनि लोग नमस्कार करते थे। निराकार, निर्विकार, निरञ्जन—जिसका कोई विशेष रूप नहीं और जो सृष्टि की रचना के समय अण्डे के रूप में उत्पन्न हुआ था, उसी ब्रह्म की अण्डे की भाँति लम्बूतरी और गोल लिङ्गरूप चिह्नवाली मूर्त्ति बनाकर ही पूजी जाती है, परन्तु लाला साहब ने भाव को न समझकर टीका-टिप्पणी करके सनातनधर्मियों के हृदय को ठेस पहुँचाई है।

तोपजी—गीता के ग्यारहवें अध्याय में भी गोल लिङ्गरूप चिह्नवाली मूर्त्ति बनाकर पूजने की चर्चा और वर्णन नहीं है, अपितु वहाँ तो भगवान् कृष्णजी ने अर्जुन को विराट् रूप दिखलाया है। भला! गीता में वर्णित इस विराट् रूप का शिवलिङ्ग के साथ क्या सम्बन्ध है? यदि गीता में भी कृष्ण के पास वही वस्तु होती जोकि शिवपुराण में महादेवजी ने पकड़ रक्खी थी तो कृष्णजी को भी सर्वथा नङ्गे होकर ही इस लिङ्ग को ग्रहण करना चाहिए था और कृष्ण की चेष्टा को भी दुष्ट चेष्टा लिखना चाहिए था और कृष्णजी के इस काम को भी वैदिक धर्म का लोप करनेवाला कहना चाहिए था और कृष्ण का वह लिङ्ग भी किसी पार्वती की योनि में जाकर शान्त होना चाहिए था, परन्तु उपर्युक्त बातों का गीता में नाम व चिह्न भी नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि गीता के इस लेख का शिवपुराण में वर्णित शिवलिङ्ग की कथा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब आप स्वयं मानते हैं कि परमात्मा निराकार, निर्विकार और निरञ्जन है और उसकी कोई विशेष आकृति भी नहीं तो फिर यह पार्वती के भग में गड़ी हुई शिवलिङ्ग की मूर्त्ति ब्रह्म की आकृति अथवा चिह्न कैसे हो सकती है? और फिर इसपर घड़े में छिद्र करके हर समय पानी टपकाने का क्या प्रयोजन है? यदि शिवलिङ्ग की मूर्त्ति अण्डाकार आकृतिवाली होती तो दोनों ओर नुकीली होती और बीच में अण्डे की भाँति मोटी होनी चाहिए थी, परन्तु वह ऐसी नहीं है, अपितु वह एक ओर से मोटी और दूसरी ओर से मूत्रेन्द्रिय की

भाँति नुकीली है और मूत्रेन्द्रिय की भाँति ही भग में गड़ी हुई है। इन समस्त कारणों से स्पष्ट सिद्ध है कि शिवपुराण में लिङ्ग की जो मूर्त्ति है वह मनुस्मृति, छान्दोग्य-उपनिषद् और गीता में वर्णित आरम्भसृष्टि के ब्रह्माण्ड की मूर्त्ति नहीं है, अपितु वह शिवपुराण में वर्णित महादेवजी के मूत्रेन्द्रिय=लिङ्ग की ही मूर्त्ति है और इसीलिए वह पार्वती की मूत्रेन्द्रिय—योनि में गड़ी हुई है और इस विचार से कि यह ज्वालामुखी पर्वत की भाँति कहीं फिर न भड़क उठे, एक घड़े में छिद्र करके उसमें पानी भरकर एक तिपाई पर शिवलिङ्ग के ऊपर रख देते हैं और बूँद-बूँद पानी हर समय शिवलिङ्ग पर गिरता रहता है।

हमने शिवपुराण के भाव को ठीक समझा है और आप काल्पनिक कथा घड़कर इसपर पर्दा डालना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य सनातनधर्मियों का दिल दुखाना नहीं है, अपितु हम सनातनधर्मियों को इसकी वास्तविकता से परिचित कराके इस रोग से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। इस शिवलिङ्ग की पूजा का वर्णन केवल शिवपुराण में ही नहीं, अपितु अन्य पुराणों में भी इसकी चर्चा विद्यमान है। हम अन्य पुराणों से भी शिवलिङ्ग के वर्णन का उल्लेख करते हैं। जिससे आप लोगों की सन्तुष्टि हो जाए कि पुराणों का उद्देश्य लिङ्ग और योनि से मूत्रेन्द्रिय की पूजा करना ही है। पोपजी की झूठी और काल्पनिक पूजा की कल्पना पुराणों को अभीष्ट नहीं है।

१. जब ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी ने अनसूया को व्यभिचार के लिए बलात् पकड़ लिया तो अनसूया ने इन तीनों को शाप दिया कि महादेव के लिङ्ग की, ब्रह्मा के सिर की और विष्णु के चरणों की संसार में पूजा होगी। सिर और चरणों के साथ लिङ्ग का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि मूत्रेन्द्रिय की पूजा का ही विधान है।

—भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १९, श्लोक ७५

२. विष्णु की जाँघ, घुटने और लिङ्ग की पूजा की जाए। यहाँ जाँघ और घुटनों के साथ लिङ्ग से मूत्रेन्द्रिय की पूजा ही अभीष्ट हो सकती है। —भविष्य० उत्तरपर्व २०६।८

३. कामदेव के पाँव, जाँघ, कमर और लिङ्ग की पूजा। —भविष्य० उत्तरपर्व २०६।८

४. देवी के स्तनों तथा जाँघ की पूजा। —भविष्य० उत्तर० २६।४६-४७

५. भवानी के स्तनों तथा जाँघ की पूजा। —भविष्य० उत्तर० २७।५-६

६. लक्ष्मी के स्तनों की पूजा। —भविष्य० उत्तर० ३७।४४

७. कुठार अर्थात् कुल्हाड़े की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १३१।२९

८. कुदाली की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १२७।३६

९. हल और मूसल की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १०६।३७-४१

१०. छुरे की पूजा। —भविष्य० उत्तर० १३८।७७

११. कुत्ते की विष्ठा (टट्टी) से अन्न निकालकर शालिग्राम की पूजा।

—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १

पुराणों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन

पुराणों में जहाँ मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है, वहाँ खण्डन भी है, अवलोकन कीजिए—

१. शिवपुराण वायुसंहिता खण्ड २, अध्याय ३९, श्लोक २९—

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्पाषाणमृन्मयान्। योगिनो न प्र पद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात्॥ २९॥

अर्थ—पानी से भरे हुए तीर्थों तथा पत्थर और मिट्टी के बने हुए देवताओं को योगी

लोग ग्रहण नहीं करते, क्योंकि इनको अपनी आत्मा में विश्वास होता है।

२. भागवतपुराण स्कन्ध १०, अध्याय ८४, श्लोक १३—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥ १३॥

अर्थ—जो मनुष्य तीन धातुओं के बने हुए शरीर को आत्मा समझता है, स्त्री-पुत्र आदि को अपना समझता है, पृथिवी के पत्थर, लकड़ी, धातु आदि की बनी हुई वस्तुओं की पूजा करता है और जो जलों को तीर्थ मानता है—बुद्धिमानों में उसकी गणना भी नहीं करनी चाहिए, अपितु वह बोझ उठानेवाले बैल और गधे के बराबर है।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २१, श्लोक ५२ से ५५ में कृष्ण ने नन्द से कहा कि यह इन्द्र की पूजा वेद के विरुद्ध है।

अवेदविहिता पूजा सर्वहानिकरण्डिका। पूजेयमधुना वा ते किमु वा पुरुषक्रमात्॥ ५२॥
दृष्टो देवस्त्वया कस्मिन्पूजेयं चानुसारिणी। साक्षात्खादति देवस्ते साक्षात्किं वा न खादति॥ ५३॥
साक्षाद् भुंक्ते च यो देवः सुप्रशस्तं तदर्चनम्। साक्षात्खादति नैवेद्यं विप्ररूपी जनार्दनः॥ ५४॥
ब्राह्मणे परितुष्टे च सन्तुष्टाः सर्वदेवताः। किं तस्य देवपूजायां यो नियुक्तो द्विजार्चने॥ ५५॥

अर्थ—वेदों के विरुद्ध जो पूजा है, वह सबके लिए हानिकारक है। यह पूजा अब नई ही चलाई गयी है अथवा परम्परा से चली आती है॥ ५२॥ तूने देव को कहाँ देखा है, जिसके अनुसार तू पूजा करता है। तेरा देवता साक्षात् खाता है अथवा नहीं खाता॥ ५३॥ जो देवता साक्षात् खाता है उसी का पूजना ठीक है। ब्राह्मणरूप देवता ही साक्षात् भोजन खाता है॥ ५४॥ ब्राह्मण के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जो ब्राह्मणों की पूजा में लगा हुआ है उसे अन्य देवताओं की पूजा से क्या प्रयोजन है॥ ५५॥

४. जब कृष्ण गोपियों के वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गये और गोपियों ने वस्त्रों को ढूँढना आरम्भ किया तो कृष्ण ने गोपियों को ताना देकर यह बात कही—

व्रताराध्या कथं सा च वस्तूनि किं न रक्षति॥ ६८॥
चिन्तां कुरुतं तां पूज्यां तुष्टाव बलिरीश्वरीम्। युष्माकमीदृशी देवी न शक्ता वस्तुरक्षणे॥ ६९॥
कथं व्रतफलं सा वा दातुं शक्ता सुरेश्वरी। फलं प्रदातुं या शक्ता सा शक्ता सर्वकर्मणि॥ ७०॥
व्रताराध्या च या देवी सा वा मे किं करिष्यति॥ ९४॥ —ब्रह्मवै० ४.२७.६८-७०, ९४

अर्थ—व्रत के द्वारा पूजित वह देवी कैसी है जो वस्तुओं की रक्षा नहीं कर सकती॥६८॥ इस पूजा की जानेवाली देवी की चिन्ता करो, उसी की स्तुति करो। तुम्हारी क्या देवी है जो वस्तुओं की रक्षा करने की शक्ति नहीं रखती, वह व्रत का फल देने में कैसे समर्थ हो सकती है। जो व्रत का फल देने की शक्ति रखती है, वह सब कार्यों में समर्थ हो सकती है॥६९-७०॥ मैं देखूँगा कि तुम्हारे द्वारा व्रत से पूजित वह देवी मेरा क्या बिगाड़ेगी॥९४॥

५. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ३, अध्याय २२, श्लोक ११-१२ में लिखा है—

सत्ये तु मानसी पूजा देवानां तृप्तिहेतवे। त्रेतायां वह्निपूजा च यज्ञदानादिका क्रिया॥ ११॥
द्वापरे मूर्त्तिपूजा च देवानां वै प्रियंकरी। कलौ तु दारुणे प्राप्ते ब्रह्मपूजनमुत्तमम्॥ १२॥

अर्थ—देवताओं की तृप्ति के लिए सत्ययुग में मन में ईश्वर की पूजा की जाती थी, त्रेतायुग में अग्नि की पूजा तथा यज्ञ-दान आदि का कार्य और द्वापर में देवताओं को मूर्त्तिपूजा प्रिय थी। अब घोर कलियुग आने पर परमात्मा की पूजा ही सबसे उत्तम है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि जहाँ मूर्त्तिपूजा वेदों के विरुद्ध है, वहाँ पुराणों में भी इसका खण्डन विद्यमान है।

६. पुराणों में मृतकश्राद्ध

सिद्धान्त—

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषाᳬश्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳬसमाः॥

—यजुः० १९।४६

अर्थ—जो इस लोक में जीते हुओं में समान गुण-कर्म-स्वभाववाले, समानधर्म में मन रखनेवाले मेरे जीते हुए पिता आदि हैं, उनकी लक्ष्मी सौ वर्षपर्यन्त मुझमें समर्थ होवे—स्थिर होवे।

भावार्थ—जब तक पिता आदि जीएँ तब तक सन्तान उनकी सेवा किया करे और पुत्र आदि जब तक पिता आदि की सेवा करें तब तक वे सत्कार के योग्य होवे और जो पिता आदि का धन हो वह पुत्रों का और जो पुत्रों का हो वह पिता आदि का रहे।

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ —यजुः० १९।५८

अर्थ—जो चन्द्रमा के तुल्य शान्त, शम-दमादि गुणयुक्त, अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण, अन्न और विद्या के दान से रक्षक हमारे जनक, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं, वे आप्त लोगों के जाने-आने योग्य धर्मयुक्त मार्गों से आवें। इस पढ़ाने और उपदेश करनेरूप व्यवहार में वर्त्तमान होके अन्नादि से आनन्द को प्राप्त हुए अधिष्ठाता होकर हमें उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी सदा रक्षा करें।

भावार्थ—विद्यार्थियों को योग्य है कि विद्या और आयु में वृद्ध विद्वानों से विद्या और रक्षा को प्राप्त होकर सत्यवादी, निष्कपटी, परोपकारी उपदेशकों के मार्ग से जा-आके सबकी रक्षा करें।

निष्कर्ष—इन वेद-मन्त्रों से सिद्ध है कि जीते हुए माता-पिता, गुरु, अध्यापक-उपदेशक और संन्यासी-महात्माओं का नाम ही पितर है जोकि अन्न, ज्ञान और शक्ति से हमारी रक्षा करते हैं। इनकी सेवा करने का नाम ही श्राद्ध और तर्पण है। चूँकि पुराणों में 'मृतक पितरों के नाम पर ब्राह्मणों को भोजन कराने से उन पितरों को पहुँचता है'—ऐसा लिखा है और इसी का नाम श्राद्ध और तर्पण माना है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—महाशयजी! वेदों में तो मृत पितरों का ही श्राद्ध करना लिखा है।

तोपजी—बिल्कुल ग़लत, सर्वथा असत्य। चारों वेदों में '**मृतकश्रद्ध**' शब्द ही नहीं है। रह गया पितर शब्द, वह भी मृतकों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अनादि और अनुत्पन्न हैं। वे न कभी पैदा होते हैं और न कभी मरते हैं, जैसाकि गीता में लिखा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —गीता २।२०

अर्थ—जीवात्मा न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है। 'यह जीवात्मा एक बार होकर फिर न होगा'—यह बात भी मिथ्या है। आत्मा अनुत्पन्न है, सदा रहनेवाला है और पुराना है, शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

इससे पता लगा कि जीव न पैदा होता है, न मरता है, इसलिए जीवों में माता-पिता, भाई-बहिन, बेटा-पोता आदि सम्बन्ध असम्भव हैं। उत्पन्न होना और मरना यह शरीर का धर्म है, अतः जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने का नाम जन्म और शरीर से सम्बन्ध-

विच्छेद का नाम मृत्यु है। जैसाकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ —गीता० २।२२

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों को धारण कर लेता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि शरीर ही पैदा होते हैं और शरीर ही मरते हैं। माता-पिता पुत्र-पुत्रियों के शरीर को उत्पन्न करते हैं, आत्मा को नहीं। इसलिए माता-पिता, भाई-बहिन के सम्बन्ध आपस में शरीरों के हैं, जीवों के नहीं। जीव न किसी का माता-पिता है, न किसी का भाई-बहिन और पुत्र है, अत: जब तक जीवों का शरीरों से सम्बन्ध रहता है, तभी तक मनुष्यों के परस्पर माता-पिता, भाई-बहिन-पुत्र आदि के सम्बन्ध हैं। मरने के पश्चात् जीव तो अपने कर्मों के अनुसार दूसरे जन्म में चला जाता है और शरीर को भस्म कर दिया जाता है, फिर माता-पिता के सम्बन्ध किसके साथ बचे रहते हैं? इसलिए 'पितर' शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं। पुत्र और पिता शब्द संस्कृत की 'पा रक्षणे' धातु से बनते हैं, अत: जो लोग अन्न से, ज्ञान से, बल से हमारी रक्षा करते हैं, वे सब पितर कहलाने के योग्य हैं। इस प्रकार माता-पिता, गुरु, आचार्य, साधु-संन्यासी, महात्मा, पण्डित, विद्वान्, राजा आदि-आदि जो हमारी शारीरिक, आत्मिक और व्यवस्था की दृष्टि से रक्षा करते हैं, वे सब हमारे पितर हैं, इसलिए वेदों में जहाँ कहीं भी पितर शब्द आता है, वहाँ पर उपर्युक्त जीवित पितरों की सेवा करना ही बताया है।

पोपजी—देखो, यजुर्वेद (१९।६०) में अग्नि से भस्म किये हुए और जल में बहाये हुए पितर मध्य द्युलोक में हमारे अन्न आदि से प्रसन्न हैं।

तोपजी—आपने तो पौराणिक गढ़े में गिरकर अपनी बुद्धि को चकनाचूर कर लिया है। श्रीमन्! अग्नि में भस्म या जल में बहाने का काम शरीरों के साथ किया जाता है। इनका हमारे अन्न से प्रसन्न होना सर्वथा मूर्खता की बात है, क्योंकि मरने के पश्चात् जब शरीरों को जला दिया अथवा पानी में बहा दिया तो उनमें अन्न ग्रहण करने की शक्ति ही असम्भव है और जीवों के लिए अग्नि में भस्म करना अथवा जल में बहाना शब्द प्रयुक्त ही नहीं हो सकते, क्योंकि जीव को अग्नि जला ही नहीं सकती जैसाकि गीता में कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽ यं सनातनः॥ १४॥
—गीता० २।२३-२४

अर्थ—इस जीवात्मा को अस्त्र-शस्त्र काट नहीं सकते और न ही अग्नि इसे जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है और न वायु इसे सुखा सकती है॥२३॥ यह जीव न काटने के योग्य है, न जलने, गलने और सूखने के योग्य है। वह सदा रहनेवाला, सब शरीरों में विद्यमान, स्थिर, अचल और सनातन है॥२४॥

इसलिए जब आत्मा जल ही नहीं सकता, फिर बतलाइए, आपके अन्न से कौन प्रसन्न होते हैं? अत: होश करो। बुद्धि से काम लो! आपके द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति होती है, वरन् इस मन्त्र में तो जीते हुए पितरों के दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की गयी है। देखिए—

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति॥ —यजुः० १९।६०

अर्थ—जो अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करने तथा जो अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थविद्याओं को जाननेहारे वा ज्ञानी पितृलोग वा विज्ञान आदि प्रकाश के बीच अपने पदार्थ के धारणरूप क्रिया से आनन्द को प्राप्त होते हैं, उन पितरों के लिए स्वयं प्रकाशमान परमात्मा इस प्राणों को प्राप्त होनेवाले शरीर को कामना के अनुकूल समर्थ करे।

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि हे परमेश्वर! जो अग्नि आदि की पदार्थविद्या को यथार्थरूप से जानके उसमें प्रवृत्त होते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भोग से सन्तुष्ट रहते हैं, उनके शरीरों को दीर्घायु कीजिए।

बतलाइए, इसमें मृतकश्राद्ध का वर्णन कहाँ है? और अग्नि में जलाये हुए और पानी में बहाये हुए क्या आपकी रक्षा कर सकते हैं और क्या आपके भोजन को ग्रहण कर सकते हैं? प्रतीत होता है कि आपको 'अग्निष्वात्ता' शब्द से भ्रम हो गया है। श्रीमन्! अग्निष्वात्ता का अर्थ अग्नि में जलाया गया नहीं, अपितु अग्निविद्या को जाननेवाला है। यहाँ जीवितों का ही वर्णन है, मृतकों का नहीं। मनुस्मृति में लिखा है कि मनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र शेष थे, उनकी उस सन्तान का नाम ही पितर है और वहाँ पर यह गिनाया गया है कि कौन-से पितर किसकी सन्तान हैं—

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥ —मनु० ३।१९५

अर्थ—'सोमसद्' नामवाले पितर विराट् की सन्तान हैं और वे साध्यों के पितर हैं और 'अग्निष्वात्ता' नामवाले पितर मरीचि ऋषि की सन्तानें हैं और वे देवताओं के पितर हैं।

इस श्लोक से सिद्ध है कि अग्निष्वात्ता नाम अग्नि में जलाये हुओं का नहीं, वरन् अग्निविद्या में दक्ष और मरीचि ऋषि की सन्तान का नाम है और वे देवताओं के पितर अर्थात् विद्वानों की रक्षा करनेवाले हैं; और आपके पुराणों में तो और भी अनोखी बात लिखी हुई है। देखिए, शिवपुराण में कहा है कि जब ब्रह्मा और उसके पुत्र शारदा अर्थात् ब्रह्मा की पुत्री पर पिता और भाई अनुरक्त हो गये और शारदा की प्रार्थना पर महादेवजी ने सबको डाँटा तो ब्रह्माजी को लज्जा के कारण पसीना आ गया। इससे अग्निष्वात्ता पितर उत्पन्न हुए। देखिए, ब्रह्माजी स्वयं अपने मुख से स्वीकार करते हैं—

मच्छरीरात्तु घर्माम्भो यत्पपात द्विजोत्तम। अग्निष्वात्ताः पितृगणा जाता पितृगणास्ततः॥
—शिव० रुद्र० सती० २।३।४८

अर्थ—मेरे शरीर से पसीने के जो बिन्दु गिरे, इससे अग्निष्वात्त पितर और अन्य पितर भी उत्पन्न हुए।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवित पितरों की सेवा का नाम ही श्राद्ध है; मृतकों के नाम से भोजन देने का नाम श्राद्ध नहीं है।

पोपजी—और ऋग्वेद [१०।१५।१४] तथा अथर्ववेद [१८।२।३५] में भी यही लिखा है कि अग्नि में जलाये गये या जो अग्नि में नहीं जलाये गये, अर्थात् पृथिवी में गाड़े गये हैं, वे द्युलोक के रहनेवाले हमारे दिये हुए अन्न आदि से प्रसन्न हों।

तोपजी—इन मन्त्रों में भी मृतक पितरों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितरों की तृप्ति का वर्णन बिल्कुल नहीं है। इन मन्त्रों में भी अग्निविद्या तथा जल, वायु और पृथिवी की विद्याओं को जाननेवालों का वर्णन है, क्योंकि अग्नि में जलाये और भूमि में गाड़े गये शरीर अन्न से प्रसन्न नहीं हो सकते और जीवों को अग्नि में जलाने तथा भूमि में गाड़ने का सिद्धान्त मानना सर्वथा मूर्खता है, जैसाकि मैं गीता के श्लोकों से पूर्व ही सिद्ध कर

चुका हूँ। तनिक मन्त्रों का भी अवलोकन करें—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ —ऋ० १०।१५।१४

इस मन्त्र का अर्थ करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इस मन्त्र का भी वही अर्थ है जोकि पहले यजुर्वेद [१९।६०] के मन्त्र का किया जा चुका है और इसका भी वही उत्तर है जोकि उपर्युक्त मन्त्र का दिया जा चुका है। अब इससे आगे अथर्ववेद का मन्त्र देखिए—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥ —अथर्व० १८।२।३५

अर्थ—जो अग्नि की भाँति तीव्र ताप से और स्वयं अपने तेज से तेजस्वी और जो अग्नि से भिन्न जल, वायु और पृथिवी आदि पदार्थों की भाँति शीतल स्वभाववाले ज्ञान के प्रकाश से आनन्द लूट रहे हैं, हे पूर्णज्ञानवान्, पूर्णविद्यायुक्त परमेश्वर! यदि आप इन सबको अपनाएँ तो वे आपको प्राप्त होकर आनन्द का लाभ कर सकते हैं।

इन मन्त्रों में कहीं भी मृतक पितरों को तृप्त करने का वर्णन नहीं है। प्रतीत होता है कि आपको 'अग्निदग्धा' शब्द से भ्रम पड़ा है, जोकि अग्निष्वात्ता शब्द का रूपान्तर है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि अग्निष्वात्ता जीवित पितरों का ही नाम है, मृतकों का नहीं। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में लिखा है कि—

अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥ —मनु० ३।१९९

अर्थ—अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य—ये सब ब्राह्मणों के ही पितर होते हैं।

चलो छुट्टी हुई। अग्निदग्ध और अग्निष्वात्त का अर्थ आप एक मिनट के लिए कुछ और मान भी लें, परन्तु वे तो पितर ही ब्राह्मणों के हैं। दूसरों पर क्या आपत्ति पड़ी है कि उन्हें तृप्त करने के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराएँ, अतः अब भी होश में आओ और मानो कि जो अग्निविद्या में चतुर हैं उन्हीं का नाम अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध है तथा जो आकाश, वायु, जल और पृथिवी की विद्या में चतुर हैं उनका नाम अनग्निदग्ध और अनग्निष्वात्त है, क्योंकि इन विद्याओं से वे हमारी रक्षा करते हैं, इसलिए उनका नाम पितर है, अतः जीवित विद्वानों का नाम ही पितर है, मृतकों का नहीं, जैसाकि अथर्ववेद में वर्णन भी है—

देवाः पितरः पितरो देवाः॥ —अथर्व० ६।१२३।३

अर्थ—देवों अर्थात् विद्वानों, साधुओं, संन्यासियों, महात्माओं का नाम पितर है और पितरों अर्थात् ज्ञान, बल और अन्न आदि से रक्षा करनेवालों का नाम ही देव है।

इसी बात का समर्थन मनुस्मृति में किया गया है—

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी॥ —मनु० ३।२८४

अर्थ—वसु अर्थात् पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम पितर है और रुद्र अर्थात् छत्तीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम पितामह है, और आदित्य अर्थात् अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का नाम प्रपितामह है, यह प्राचीन श्रुति है, अर्थात् यह ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुसार है।

बस, इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि जीते हुओं का नाम ही पितर है और उनकी सेवा का नाम ही श्राद्ध-तर्पण है। मृतकों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराना और उससे

मृतक पितरों की तृप्ति मानना वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है।

पोपजी—अथर्ववेद [१८।२।३४] में स्पष्ट लिखा है कि मरने के पश्चात् जिन पितरों को भूमि में गाड़ दिया जाता है और जो अग्नि में जला दिये जाते हैं और जो युधिष्ठिर आदि की भाँति इसी शरीर से स्वर्गलोक चले गये हैं, हे अग्ने! इन सब पितरों को दी हुई हवि खाने के लिए इस पितृकर्म में बुलाओ।

तोपजी—इस मन्त्र में भी मृतक पितरों का कहीं नाम व चिह्न भी नहीं है और न ही इस मन्त्र में श्राद्ध शब्द ही विद्यमान है, अपितु इस मन्त्र में तो यजमान अपने पुरोहित को कहता है कि पितरों अर्थात् जीवित विद्वानों, महात्माओं को खाने के पदार्थ उपस्थित करो। देखिए, तनिक मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़कर विचार करें—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा य चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्ने आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ —अथर्व० १८।२।३४

अर्थ—यजमान पुरोहित से कहता है कि—हे विद्वन्! जो पदार्थ भूमि में गाड़े हुए होते हैं, अर्थात् (आलू, शकरकन्द, मूली, गाजर आदि) और जो पदार्थ बोये जाते हैं अर्थात् गेंहूँ, चावल आदि और जो पदार्थ भूनकर खाये जाते हैं (चने, मक्की, धान आदि) और जो पदार्थ बाहर निकाले जाते हैं, अर्थात् सिंघाड़े, कमलगट्टे आदि—इन सब पदार्थों को प्रीतिभोज का खाना खिलाने के लिए साधु, संन्यासी, महात्मा, वृद्धों आदि पितरों के लिए लाकर दे।

इस मन्त्र में जो 'परोप्ता' शब्द है, इसका अर्थ बीजे जानेवाले पदार्थ हैं और बीजा जाना अन्नों, शाक-भाजी आदि का ही सम्भव है, अतः इस मन्त्र को मृतक पितरों पर किसी अवस्था में भी आरोपित नहीं किया जा सकता। इस मन्त्र से भी स्पष्ट सिद्ध है कि वेदों में जीवित वृद्धों की ही सेवा आदि का विधान है, मृतक पितरों की नहीं।

पोपजी—महाशय! बतलाइए, इन सब वेदमन्त्रों में जब मरे हुए पितरों का अन्न आदि से श्राद्ध करना लिखा है तो आपके मनमाने सिद्धान्त के अनुसार जीते हुए पितरों का श्राद्ध वेदों के विरुद्ध नहीं तो और क्या है? जब वेदों के सैकड़ों मन्त्र मृत पितरों के श्राद्ध की ही आज्ञा देते हैं, तब वेदों के अनुसार यदि पुराणों ने मृत पितरों के श्राद्ध की आज्ञा दे दी तो इसमें कौन-सी बुराई है।

तोपजी—हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि इन वेदमन्त्रों में मृतक श्राद्ध की गन्ध तक भी नहीं है और पितर शब्द जीवितों के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, मृतकों के लिए नहीं; और चारों वेदों में जहाँ-जहाँ भी पितर शब्द आता है, वह जीवितों के लिए ही आता है, अतः मृतक-श्राद्ध वेदों के विरुद्ध है। चूँकि पुराणों में मृतक पितरों के नाम से ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति का वर्णन है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

पोपजी—स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश १८७५ में पृष्ठ १४९ में मरे हुए पितरों के लिए ही मांस के पिण्ड बनाकर श्राद्ध करने की आज्ञा दी हुई है।

तोपजी—जैसे वाममार्गी लोगों ने आर्यजाति के अन्य पवित्र ग्रन्थों रामायण, महाभारत और मनुस्मृति आदि में मांसभक्षण आदि के श्लोक डालकर उन्हें भ्रष्ट कर दिया है, वैसे ही स्वामीजी के आरम्भ में बनाये हुए सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि में भी धूर्त, वाममार्गी, पौराणिक लोगों ने अपने मनमाने सिद्धान्त मृतक-श्राद्ध और मांस-पिण्ड आदि सम्मिलित कर दिये थे, परन्तु स्वामीजी ने पता लगते ही विज्ञापन द्वारा उनका खण्डन कर दिया और दोनों पुस्तकों को अप्रामाणिक ठहराकर अग्नि की भेंट कर दिया और इन दोनों

ग्रन्थों का संशोधन करके इन्हें वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित कराय। इसलिए सन् १८७५ का सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज के लिए अप्रामाणिक और अग्नि में भेंट करने के योग्य है। इस रद्द की हुई पुस्तक का प्रमाण देना सरासर बेहूदापन है। हाँ, श्राद्धों में मांस के पिण्ड देना सनातनधर्म के ग्रन्थों में विद्यमान है, जैसाकि मांसभक्षण के प्रकरण में हम मनुस्मृति के सन्दर्भ से सिद्ध कर आये हैं।

पोपजी—और स्वामीजी ने संस्कार-विधि के समावर्तनप्रकरण में गुरुकुल में बैठकर दक्षिण की ओर मुख करके, यज्ञोपवीत बदलकर, घुटने भूमि पर टेककर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने की आज्ञा यूँ दी है कि—'**ओं पितरः शुन्धध्वम्**'—इस मन्त्र से तर्पण करना लिखा है। महाशय! क्या यह तर्पण जीते हुए पितरों का है? यदि स्वामीजी को जीवित पितरों का श्राद्ध व तर्पण करना अभीष्ट होता तो वे यज्ञोपवीत बदलकर दक्षिण की ओर मुख करके घुटने भूमि पर टेककर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने की आज्ञा न देते। क्या स्नातकों के घर में बैठे हुए जीवित पितर गुरुकुल में एक अञ्जलि पानी देने से तृप्त हो जाते हैं? और क्या आर्यसमाजियों के पितर भूमि में धँसे रहते हैं, जोकि भूमि पर डाले हुए जल से तृप्त हो जाते हैं?

तोपजी—आपको झूठ बोलने का असाध्य रोग हो चुका है। संस्कार-विधि में न तो श्राद्ध शब्द है और न ही तर्पण की चर्चा है, न कहीं यज्ञोपवीत बदलने की आज्ञा है और न भूमि पर घुटने टेकने की आज्ञा दी है। यह सब पोपजी के अपने ही अपवित्र मस्तिष्क का आविष्कार है। संस्कार-विधि में यह पाठ है—

''अपसव्य और दक्षिणमुख होके '**ओं पितरः शुन्धध्वम्**' इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़ दे'' जिसके स्पष्ट अर्थ ये हैं कि जब ब्रह्मचारी का समावर्तन-संस्कार होने लगे तो यज्ञशाला में जो पितर अर्थात् आचार्य, गुरु, पण्डित, साधु, महात्मा, वृद्ध बैठे हों उनके बायीं ओर खड़ा होकर और दायीं ओर अर्थात् उनकी ओर मुख करके हाथ में जल लेकर उनसे प्रार्थना करे कि महाराज! आप लोगों की कृपा से मैं अपने आगामी जीवन को इस जल की भाँति पवित्र और अपने स्वभाव को इस जल की भाँति शीतल बनाऊँगा। आप भी समय-समय पर अपने पवित्र उपदेश से हमारी सन्तप्त आत्माओं को इस जल की भाँति पवित्र और शीतल करते रहें। यह कहकर जल को पृथिवी पर छोड़ दे।

अब आप ही बतलाएँ, इस पाठ में मृतक पितरों के श्राद्ध का वर्णन कहाँ है? आर्यसमाजियों के जीवित पितर तो वहीं विद्यमान होते हैं और जल केवल प्रतीक के रूप में हाथ में लेकर भूमि पर डाला जाता है। हाँ, सनातनधर्मियों के पितर अवश्य भूमि में धँसे होते होंगे, कदाचित् बायें भी जाते होंगे तभी तो उपर्युक्त वेदमन्त्र में सनातनधर्म के दृष्टिकोण से प्रार्थना है कि—हे अग्ने! जो हमारे पितर भूमि में गाड़े गये हैं, आदि-आदि। इसलिए मिश्रजी महाराज! होश करो, अब भी सँभल जाओ। अब युग खीर को पितरों तक पहुँचाने के लिए आपके पेटरूपी लैटर बक्स (Letter Box) में डालने के लिए तैयार नहीं है।

पोपजी—अस्तु। श्राद्ध व तर्पण तो मरे हुए ही पितरों का करना वेदों और शास्त्रों में बतलाया गया है। लाला साहब! गरुडपुराण में बतलाये हुए मृतक पितरों का श्राद्ध करना वेदों के अनुकूल ही है।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेद और शास्त्रों में मृतक पितरों के श्राद्ध का वर्णन नहीं है और न ही वेदों में 'मृतकश्राद्ध' शब्द विद्यमान है और न ही मृतक पितरों पर पिता शब्द लागू हो सकता है, अपितु जीवित पितरों की सेवा ही श्राद्ध और तर्पण कहा जा सकता है, अत: गरुडपुराण में जो मृतकों का श्राद्ध लिखा है वह वेद और शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध

है और स्वयं गरुडपुराण भी इस बात को स्वीकार करता है कि अपने हाथ से दिया हुआ दान ही फल देनेवाला होता है, किसी दूसरे का दिया हुआ दान मरनेवालों को लाभदायक नहीं हो सकता। लीजिए, अवलोकन कीजिए—

आत्मनश्च शुभं कर्म कर्त्तव्यं पारलौकिकम्॥ ३४॥
विमुक्तः सर्वदुःखेभ्यो येनाञ्जो दुर्गतिं तरेत्।
भ्रातरः कस्य के पुत्राः स्त्रियोऽपि स्वार्थकोविदा॥ ३५॥
न कार्यस्तेषु विश्रम्भः स्वकृतं भुज्यते यतः॥ ३६॥ —गरुडपुराण प्रेतखण्ड ९.३४-३६

अर्थ—परलोक के लिए दान आदि शुभ कर्म स्वयं ही करने चाहिए, जिससे मनुष्य सब दुःखों से छूटकर दुर्गति से तर जाता है। कौन किसके भाई हैं, किसके पुत्र हैं, कौन किसकी स्त्री है—ये सब स्वार्थसाधन में चतुर हैं। इनमें विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य अपने ही किये हुए दान आदि कर्मों का फल भोगता है।

इस प्रकार के और भी सैकड़ों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य को अपने ही कर्मों का फल मिलता है, किसी और के कर्मों का नहीं, अतः मृतक पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्ध आदि कर्म व्यर्थ और धोखा देना ही है।

पोपजी—गरुडपुराण में जो पुतला-दहन का वर्णन है वह किसी बुराई का कारण नहीं हो सकता। इसमें स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति घर से चला जाए और उसके मरने का विश्वास हो जाए, तब घर में इसका पुतला बनाकर जला दिया जाए और उसके क्रियाकर्म किये जाएँ।

तोपजी—बुराई क्यों नहीं? यह तो दिन-दहाड़े जनता पर डाका डालने का पर्यायवाची है और नितान्त धोखा देना और ठगी है। यदि कोई व्यक्ति खो जाए तो उसके बहाने घरवालों को लूटना और यदि वह फिर मिल जाए तो प्रायश्चित के बहाने से उसे लूटना। इस लूट का भी कुछ ठिकाना है। देखिए इस लूट का वर्णन गरुडपुराण प्रेतखण्ड, अध्याय ४ में श्लोक १०२ से १७० तक यूँ किया गया है—

''गरुड़ ने श्रीकृष्ण से पूछा—महाराज! यदि कोई मनुष्य परदेश गया हो और उसकी हड्डियाँ भी न मिल सकें, उसके मोक्ष की क्या विधि है? कृष्णजी ने उसके मोक्ष का निम्न उपाय बतलाया—एक काले हिरन की खाल को भूमि पर बिछा दिया जाए, उस खाल पर, उस व्यक्ति का जो परदेश गया हुआ है और जिसके मरने का तुम्हें पूर्ण विश्वास हो चुका है, पुतला बना दिया जाए। ढाक के पत्तों की ३६० डण्डियाँ मँगवाई जाएँ। उन्हें हड्डियों के स्थान पर प्रयुक्त किया जाए। उन डण्डियों को उस पुतले के शरीर में पृथक्-पृथक् इस प्रकार लगाया जाए कि चालीस सिर में रक्खी जाएँ और दस ग्रीवा के स्थान पर लगाई जाएँ, बीस छाती में, बीस पेट में, दोनों हाथों में एक सौ और कमर में बीस लगानी चाहिएँ। एक सौ तीस दोनों जाँघों में, चार लिङ्ग में और छह दोनों अण्डकोशों में और दस पाँव की अँगुलियों में लगाई जाएँ। इस प्रकार हड्डियों के स्थान में ढाक के पत्तों की डण्डियाँ लगाकर सिर के स्थान पर नारियल लगा दे और तालु के स्थान पर तूंबा रक्खे। मुख में पाँच रत्न रक्खे और जिह्वा के स्थान पर केले की फली लगा देवे, आँतों में कमल की नली लगा दे और नाक में भी नली और बालू रेत लगा दे। चर्बी के स्थान पर मिट्टी, हड़ताल और मैंसिल लगा दे। मणि के स्थान पर पारा रक्खे और गुदा के स्थान पर पीतल लगा दे तथा सारे शरीर पर जौ का आटा गूँधकर लगा दिया जाए, रक्त के स्थान पर शहद भर दिया जाए, बालों के स्थान पर बड़ की जटा और त्वचा के स्थान पर मृग की खाल लगाई जाए। कानों के स्थान पर ताल के पत्ते, स्तनों के स्थान पर रत्तियाँ, नाभि के स्थान पर कमल

का डोडा लगाया जाए। दोनों अण्डकोशों के स्थान पर बेंगन और लिङ्ग के स्थान पर गाजर लगाई जाए तथा रेशम का वस्त्र पहनाया जाए। जब पुतला तैयार हो जाए तब इसका दाहकर्म करके क्रियाकर्म किया जाए। ब्राह्मणों को खूब दान दिया जाए, तब उसका मोक्ष हो जाएगा और यदि वह व्यक्ति जिसे मृतक समझकर यह सब किया गया है, वापस आ जाए तो उसे एक घी के कुण्ड में डुबकी लगवा दी जाए और इसके जातकर्म से आरम्भ करके सब संस्कार कराये जाएँ और पन्द्रह या बारह वर्ष के पश्चात् इसकी प्रथम पत्नी का इससे पुनर्विवाह कराया जाए, तब उसका प्रायश्चित्त हो सकता है। ''

इसका नाम है लूट। संसार में इससे बढ़कर ठगी, धोखेबाज़ी, बेईमानी, डाका डालना और लूट क्या हो सकती है और इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है?

पोपजी—महाशय! वेदों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में मरे हुए पितरों के श्राद्ध का ही वर्णन है। यदि इस विषय में ज्ञान प्राप्त करना हो तो 'सनातनधर्म रक्षक' पुस्तक का अवलोकन करें, आपकी सन्तुष्टि हो जाएगी कि पुराण वेदों के अनुकूल हैं।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में मृतकश्राद्ध का वर्णन नहीं है और पुराणों में मृतकश्राद्ध का वर्णन किया गया है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं। मृतकश्राद्ध के विरुद्ध स्वयं पुराणों में ही प्रमाण विद्यमान हैं, जिन्हें आपकी सन्तुष्टि के लिए यहाँ लिखा जाता है—

१. माता-पिता, पुत्र, स्त्री कोई सहायता नहीं कर सकते। जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है। —गरुडपुराण, प्रेतखण्ड ५।११५[१]

२. **अधिकारो यदि नास्ति यदि नास्ति च निश्चयः।**
जीविते सति जीवाय दद्याच्छ्राद्धं स्वयं नरः॥ —वही ८।१०

अर्थ—यदि अधिकार न हो और श्राद्ध में विश्वास न हो तो जीते हुए ही जीते हुए के लिए स्वयं श्राद्ध कर लेना चाहिए।

३. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १२ श्लोक २१ से २७ तक में लिखा है कि—जीव को अपने कर्मों का फल अवश्य मिलता है।

४. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १३, श्लोक २ में स्पष्ट लिखा है कि—

अथ वक्ष्यामि संक्षेपात्क्षयाहादौर्ध्वदैहिकम्। स्वहस्तेनैव कर्तव्यं मोक्षकामैस्तु मानवैः॥

अर्थ—मैं संक्षेप में कहता हूँ कि मोक्ष की इच्छा करनेवाले को परलोक के लिए सब काम अपने हाथ से करने चाहिएँ।

५. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १३, श्लोक २५ में लिखा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो, यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थ—जब तक यह शरीर स्वस्थ और रोगों से रहित है, जब तक बुढ़ापा दूर है; जब तक इन्द्रियों की शक्ति मारी नहीं गयी है और जब तक आयु क्षीण नहीं हुई है, विद्वान् को तभी तक अपनी आत्मा की भलाई के लिए भारी प्रयत्न और पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि भवन में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ?

६. सीता के विवाह में राजा जनक ने श्राद्ध किया। —वा० रा० बालकाण्ड ७२।२१

७. महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ९१ में युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि संसार

---

१. **क्व माता क्व पिता क्व जाया क्व सुता सुहृत्। स्वकर्मोपार्जितं भुंक्ष्व मूर्ख यातश्चिरं पथि॥**

में श्राद्ध कैसे आरम्भ हुए? इसपर भीष्मजी ने कहा कि—एक निमि नाम का ऋषि था। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम श्रीमान् था। वह मर गया। उसे पुत्र मरने का बहुत शोक हुआ। इस शोक में उसने श्राद्ध की कल्पना की और जो भोजन पुत्र को प्यारे थे, वे अमावास्या के दिन पुत्र के नाम से ब्राह्मणों को खिला दिये और इस अवसर पर पुत्र के नाम से पिण्डदान किया, परन्तु जब वह श्राद्ध कर चुका तब—

तत्कृत्वा स मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकरमात्मनः। पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत्॥ १६॥
अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्। कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति॥ १७॥

अर्थ—वह मुनि इस प्रकार धर्म के विरुद्ध कार्य करके बाद में बहुत चिन्तित होकर बहुत ही दुःखी हो पछताने लगा॥१६॥ यह मैंने क्या कार्य कर डाला, जोकि मुनि लोगों ने कभी भी नहीं किया था? कहीं ऐसा न हो कि ब्राह्मण लोग शाप देकर मुझे भस्म कर दें॥१७॥

निष्कर्ष यह कि पुराणों में इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मृतकश्राद्ध वेद के विरुद्ध है और युक्ति तथा तर्क के भी विरुद्ध है।

७. पुराणों में सस्ती मुक्ति

सिद्धान्त—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१।१८

अर्थ—हे जिज्ञासु पुरुष! मैं जिस बड़े-बड़े गुणों से युक्त, सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप, अन्धकार व अज्ञान से पृथक् वर्त्तमान, स्वस्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को जानता हूँ, उसी को जानके आप दुःखदायी मरण को उल्लङ्घन कर जाते हो, किन्तु इससे भिन्न मार्ग अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए विद्यमान नहीं है।

परिणाम—परब्रह्म परमात्मा को जानकर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
—यजुः० ४०।१४

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों को इकट्ठा ही जानता है, वह कर्मों से मृत्यु को तैरकर ज्ञान से मोक्ष को भोगता है।

निष्कर्ष—मोक्ष न केवल ज्ञान से मिलता है और न केवल कर्मों से मिलता है, अपितु जो मनुष्य परमात्मा और परमात्मा के ज्ञान वेद को भली-भाँति जानकर उसके अनुसार कर्म करता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

चूँकि पुराणों में साधारण साधनों—गङ्गा-स्नान, व्रत, तिलक, रुद्राक्ष-धारण आदि-आदि से मोक्ष मिलना लिखा है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—लाला साहब! सनातनधर्म भी ईश्वर के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानता है। पुराणों में इस वेद की आज्ञा का कहीं भी खण्डन नहीं है, अपितु पुराणों के अधिकांश भाग में ईश्वरभक्तिरूप मुक्ति प्राप्त करने के ही साधनों का वर्णन है। गङ्गा-स्नान या तिलक लगाना आदि ईश्वरभक्ति के साधन होने के कारण ही मुक्ति के साधन बतलाये गये हैं।

तोपजी—यदि पौराणिक लोग ईश्वर के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते तो गङ्गा-स्नान, शिवरात्रि-व्रत आदि से मुक्ति होना क्यों मानते? पुराणों में स्पष्टरूप में वैदिक आज्ञा का खण्डन है, क्योंकि वेद तो कहते हैं कि ईश्वर के ज्ञान और कर्म बिना मुक्ति नहीं हो सकती और अन्य कोई मार्ग मुक्ति का नहीं है, परन्तु पुराणों में अत्यन्त सरल उपायों से मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गयी है, जैसाकि ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति० १०।७१

अर्थ—जो कोई मनुष्य सैकड़ों योजन दूर से भी 'गङ्गा-गङ्गा' ऐसा उच्चारण करता है, वह सब पापों से छूट जाता है और विष्णुलोक को प्राप्त हो जाता है।

पुराणों में ईश्वरभक्तिरूप मुक्ति का वर्णन नहीं, अपितु साक्षात् मुक्ति होने का ही वर्णन है, जैसाकि शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता अध्याय २३ में काशी में रहने और मरने से ही मुक्ति बतलाई है—

स्वेदजश्चाण्डजो वापि ह्युद्भिज्जोऽथ जरायुजः। मृतो मोक्षमवाप्नोति यथात्र न तथा क्वचित्॥ १७॥
ज्ञानापेक्षा न चात्रैव भक्त्यपेक्षा न वै पुनः। कर्मापेक्षा न देव्यत्र दानापेक्षा न चैव हि॥ १८॥
संस्कृत्यपेक्षा नैवात्र ध्यानापेक्षा न कर्हिचित्। नामापेक्षार्चनापेक्षा सुजातीनां तथात्र न॥ १९॥
मम क्षेत्रे मोक्षदे हि यो वा वसति मानवः। यथा तथा मृतः स्याच्चेन्मोक्षमवाप्नोति निश्चितम्॥ २०॥

अर्थ—स्वेदज—मच्छर आदि, अण्डज—पक्षी आदि, उद्भिज्ज—वृक्षादि और जरायुज—मनुष्य और पशु आदि जैसे यहाँ—काशी में मरकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, वैसे और कहीं नहीं॥१७॥ यहाँ पर मोक्ष के लिए न ज्ञान की आवश्यकता है और न ही भक्ति की आवश्यकता है। हे देवि! यहाँ कर्मों की भी कोई आवश्यकता नहीं और मोक्ष-प्राप्ति के लिए यहाँ दान की भी आवश्यकता नहीं है॥१८॥ न यहाँ संस्कारों की आवश्यकता है और न ही यहाँ पर ध्यान की आवश्यकता है, न यहाँ पर मोक्ष के लिए नाम जपने की आवश्यकता है और न ही किसी की पूजा करने की आवश्यकता है॥१९॥ मेरे मोक्ष देनेवाले इस क्षेत्र काशी में जो भी निवास करता है, जैसे-कैसे भी वह मर जाए, वह निश्चितरूप से मोक्ष को प्राप्त करता है॥२०॥

कहिए महाराज! शिवपुराण ने तो यहाँ पर आपकी सारी शेख़ी (हेकड़ी) किरकिरी कर डाली। यहाँ ज्ञान, भक्ति, कर्म, दान, संस्कार, ध्यान, नाम, पूजा आदि किसी भी साधन की मुक्ति के लिए आवश्यकता नहीं बतलाई, केवल काशी में निवास करना और मरना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है। अब तो सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहा कि पुराणों में वेदों के उपर्युक्त लेख का प्रबल खण्डन है, इसलिए पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

पोपजी—गङ्गा-स्नान से आत्मा का शुद्ध होना ऋग्वेद में भी माना है और शास्त्रों में गङ्गा को पतितपावनी माना गया है। देखो—ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६१, मन्त्र ९ और अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त ४, मन्त्र ७ में स्पष्ट लिखा है कि गङ्गा आदि तीर्थों में जाकर स्नान करने से पुरुष को वह फल मिलता है जोकि कई प्रकार के यज्ञों, साधनों और तपस्याओं से भी कठिनता से मिला करता है, वरन् संसाररूप समुद्र से मनुष्य तर जाता है।

तोपजी—ऋग्वेद के किस मन्त्र में गङ्गा-स्नान से आत्मा का शुद्ध होना माना है, तनिक वेद का मन्त्र तो प्रस्तुत कर दिया होता और कौन-सा धर्मशास्त्र गङ्गा को पतितपावनी बताता है, तनिक उसका भी सन्दर्भ अङ्कित कर दिया होता। बिना प्रमाण के ही वेदों और शास्त्रों का नाम लेकर सटल्लेबाज़ी करना सनातनधर्म का ही काम है। वेद तो ज्ञान से ही आत्मा

की शुद्धि मानता है। वही बात मनुजी महाराज मनुस्मृति में सव्याख्या वर्णन करते हुए कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनु० ५।१०९

अर्थ—जल से स्नान करने से शरीर शुद्ध होता है, मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है, आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

मनुस्मृति में एक और भी श्लोक आता है जोकि गङ्गा जाने का निषेध करता है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

—मनु० ८।९२

अर्थ—यम वैवस्वत नामवाला देव अर्थात् परमात्मा जो तेरे हृदय में विद्यमान है, यदि उसके साथ तेरा मतभेद नहीं है तो तुझे गङ्गा और कुरुक्षेत्र में जाने की आवश्यकता नहीं है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि यदि उस परमात्मा से तेरा मतभेद है, तो भी गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाना व्यर्थ है। यद्यपि यह श्लोक पौराणिक काल का प्रक्षेप है, परन्तु फिर भी यह मोक्ष के लिए गङ्गा और कुरुक्षेत्र में जाने का खण्डन करता है। इसी बात को कबीरजी इस रूप में कहते हैं—

कबीरा गङ्गा तीर जो घर करे पीवे निर्मल नीर।
बिन भक्ति मुक्ति नहीं होवे कह गये भक्त कबीर॥

अब आपके दिये हुए वेदमन्त्रों की भी तनिक पड़ताल करते हैं कि उनका उद्धरण देने में आपने कितनी ईमानदारी से काम लिया है। सर्वप्रथम ऋग्वेद के मन्त्र को लीजिए—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत॥ —ऋ० १।१६१।९

अर्थ—हे मनुष्यो! जैसे एक पुरुष 'संयुक्त पृथिवी आदि पदार्थों में जल अधिक हैं', ऐसा कहता है और दूसरा 'अग्नि अधिक है'—ऐसा उत्तमता से कहता है तथा कोई बहुत पदार्थों में बढ़ी हुई भूमि को अधिक बतलाता है, इसी प्रकार सत्य बातों को कहते हुए सज्जन तुम मेघों के समान पदार्थों को अलग-अलग करो।

भावार्थ—इस संसार में स्थूल पदार्थों के मध्य कोई जल को अधिक, कोई अग्नि को अधिक और कोई भूमि को बड़ा बताते हैं, परन्तु स्थूल पदार्थों में भूमि ही अधिक है, इस प्रकार सत्य विज्ञान से मेघ के अवयवों का ज्ञान उसके समान सब पदार्थों को अलग-अलग कर सिद्धान्तों की सब परीक्षा करें। इस काम के बिना यथार्थ पदार्थविद्या को नहीं जान सकते।

बतलाइए, इस मन्त्र में गङ्गा और उसमें स्नान करने से फल मिलने का वर्णन कहाँ है? इसके पश्चात् अथर्ववेद के मन्त्र पर भी तनिक विचार करें—

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥

—अथर्व० १८।४।७

अर्थ—तैरने के साधनों (शास्त्रों या नौकाओं) द्वारा मनुष्य बहुत गतियोंवाली बड़ी आपत्तियों या नदियों को पार करते हैं, जिससे यज्ञ करनेवाले धर्मात्मा, शुभ कर्म करनेवाले मनुष्य चलते हैं—ऐसा निश्चय है। वहाँ (संसार में) यजमान के लिए स्थान धर्मात्माओं ने

दिया है, जबकि दिशाओं को सत्तावाले प्राणियों ने समर्थ बनाया है।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे मनुष्य लोग नौकाओं और जलपोतों (जहाज़ों) आदि के द्वारा बड़ी भयङ्कर नदियों और समुद्र आदि को तैर जाते हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा लोग भी यज्ञ और शुभ कर्मों के द्वारा संसार की सारी आपत्तियों को तर जाते हैं।

इस मन्त्र में भी गङ्गा-स्नान और उससे फल मिलने का कोई भी वर्णन नहीं है। जैसे ऋग्वेद के मन्त्र में केवल 'आप:'=जल शब्द को देखकर आपको भ्रम हो गया, वैसे ही इस मन्त्र में केवल तीर्थ शब्द को देखकर भ्रम हो गया है; परन्तु तीर्थ के अर्थ गङ्गा आदि नदियों के नहीं हैं, अपितु तीर्थ का अर्थ है—तराने का साधन, नदियों से पार उतरने के साधन नौका आदि को तीर्थ कहा जा सकता है और संसाररूप समुद्र से तरानेवाले यज्ञ, तप, ज्ञान आदि को तीर्थ कहा जा सकता है, क्योंकि वे संसाररूप दु:खों के सागर से तरा देते हैं। जैसे शिवपुराण में सत्य को ही तीर्थ कहा गया है—

अगाधे विपुले सिद्धे सत्यतीर्थे शुचिह्रदे। स्नातव्यं मनसा युक्तं स्थानं तत् परमं स्मृतम्॥

—शिव० उमासं० १२। ३४

अर्थ—मनुष्यों को बहुत गहरे, बड़े और सिद्धियों से भरे हुए सत्यरूपी तीर्थ तथा पवित्रतारूपी सरोवर में मानसिक स्नान करना चाहिए, वह ही श्रेष्ठ स्थान समझने योग्य है।

सर्वेषामेव तीर्थानां क्षान्तिः परमपूजिता। तस्मात्पूर्वं प्रयत्नेन क्षान्तिः कार्या क्रियासु वै॥

—भविष्य० ब्राह्म० १७१। ४७

अर्थ—सब तीर्थों में शान्तिरूपी तीर्थ सर्वोत्तम है, अत: सब कामों में सर्वप्रथम, प्रयत्नपूर्वक शान्ति धारण करनी चाहिए।

यत्स्नातं ज्ञानसलिलैः शीलभस्मप्रमार्जितम्। तत्पात्रं सर्वपात्रेभ्य उत्तमं परिकीर्तितम्॥

—भविष्य० ब्राह्म० १८७। ७९

अर्थ—जो ज्ञान के जलों से स्नान किया हुआ है और शील की भस्म से मँजा हुआ है, वह पात्र सब पात्रों में उत्तम गिना जाता है।

आदि-आदि—स्मृतियों और पुराणों में सैकड़ों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जल-स्थल तीर्थ नहीं, अपितु संसार-सागर से तरानेवाले ज्ञान, शान्ति, विद्या, सत्यशास्त्र आदि तीर्थ हैं।

पोपजी—महाशय! बतलाइए, जब वेदों में गङ्गा आदि तीर्थों के स्नान से भव-सागर से तरना बतलाया है तो पुराणों में इस वेद की आज्ञा का सविस्तर वर्णन किया जाना क्या दोष का कारण हो सकता है? मानना पड़ेगा कि वेद की आज्ञाओं का वर्णन पुराणों में होने से पुराण वेदों के अनुकूल हैं।

तोपजी—हम सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों में गङ्गा आदि नदियों में स्नान करने और इनमें स्नान करने से फल मिलने की चर्चा तक नहीं है, इसलिए पुराणों में वर्णित नदियों के स्नान से मुक्ति मानना वेदों के सर्वथा विरुद्ध है। पुराणों ने ऐसा वर्णन करके संसार में पाप को बढ़ावा दिया है, क्योंकि लोग समझते हैं कि चाहे जितने भी पाप करें, परन्तु गङ्गा-स्नान से अवश्य ही मोक्ष हो जाएगा। इसलिए वे पापों से डरते नहीं, अत: जल-स्थल को मुक्ति का दाता तीर्थ मानना वेदों के विरुद्ध और संसार में पापों को बढ़ाने का कारण हुआ है, जैसाकि पुराणों में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, जिनमें मुक्ति को बच्चों का खेल बना दिया है।

१. शिवपुराण में लिखा है कि—शिव के नाम से ही मुक्ति हो जाती है।

—शिवपु० विश्वेश्वर० २३। ३५

२. शिवपुराण विश्वेश्वरसंहिता अध्याय २४, श्लोक ४०-४१ में लिखा है कि भस्म के धारण करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, स्त्री, विधवा, बालक, पाखण्डी, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ, संन्यासी—इन सबकी मुक्ति हो जाती है।[१]

३. शिवपुराण विश्वेश्वरसंहिता अध्याय २५, श्लोक २१ में लिखा है कि—रुद्राक्ष धारण करने से मुक्ति हो जाती है।[२]

४. गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय ४९, श्लोक ६० से ८८ तक इन सब साधनों का खण्डन किया गया है और ज्ञान से मुक्ति मानी गयी है। जैसे—

आजन्ममरणान्तं च गङ्गादितटिनीस्थिताः। मण्डूकमत्स्यप्रमुखा योगिनस्ते भवन्ति किम्॥६८॥
ज्ञानह्रदे सत्यजले रागद्वेषमलापहे। यः स्नाति मानसे तीर्थे स वै मोक्षमवाप्नुयात्॥१११॥

अर्थ—जन्म से लेकर मरण तक गङ्गा आदि नदियों के किनारे और जल में रहनेवाले मेंढक और मछलियाँ क्या योगी हो जाते हैं॥६८॥ ज्ञान के तालाब में, जिसमें राग-द्वेष को दूर करनेवाला सत्य का जल है, ऐसे मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है, क्योंकि ऐसा मन ही तीर्थ है।

निष्कर्ष यह कि पुराणों में ऐसे सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जो ज्ञान के बिना मुक्ति बताते हैं। चूँकि पुराणों का सस्ती मुक्ति वर्णन करना वेदों के विरुद्ध है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

८. पुराणों में जुआबाज़ी

सिद्धान्त—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानाः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ —ऋ० १०।३४।१३

अर्थ—हे जुआरी! जूआ मत खेल! यदि खेती करे तो उसे बहुत मानता हुआ धन से आनन्द मनाएगा, क्योंकि यह श्रेष्ठ उपदेश करनेवाला मुझे यह उपदेश करता है कि इसी में स्त्री है और इसी में गौ आदि पशु हैं।

परिणाम—इस वेदमन्त्र में स्पष्टरूप से जुआ खेलने का निषेध है और पुराणों में जुआ खेलने की आज्ञा है, अतः पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

—:०:—

पोपजी—लाला साहब! पुराणों में कई स्थानों पर जुआ खेलना बुरा बताया गया है। महाभारत में भी जुए की निन्दा की गयी है। पद्मपुराण और भविष्यपुराण में जहाँ जुए का वर्णन है, वहाँ जुआ खेलने की आज्ञा बिल्कुल नहीं है। जुए का वर्णन देखकर उसके खेलने की आज्ञा समझ लेना अनुचित है। महाशय! पुराणों के इतिहास-भाग के वर्णन को विधिरूप मानना भारी भूल है।

तोपजी—यदि पुराण जुआ खेलने को पाप मानते हैं तो पुराणों ने युधिष्ठिर को पापी क्यों नहीं लिखा? जहाँ स्वर्ग को जाते हुए भीम अधिक खाने के कारण, अर्जुन वीरता के घमण्ड के कारण, नकुल सौन्दर्य के गर्व के कारण, सहदेव पाण्डित्य के अभिमान से और द्रौपदी अर्जुन से अधिक प्रेम के कारण स्वर्ग तक पहुँचने से पूर्व ही गिर पड़े, वहाँ जुआ

१. **ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चापि च संकराः। स्त्रियोऽथ विधवा बालाः प्राप्ता पाखण्डिकास्तथा॥४०॥**
ब्रह्मचारी गृही वन्यः संन्यासी वा व्रती तथा। नार्यो भस्मत्रिपुंड्राङ्का मुक्ता एव न संशयः॥४१॥

२. **रुद्राक्षाः कामदा देवि भुक्तिमुक्तिप्रदाः सदा॥**

खेलनेवाला युधिष्ठिर शरीरसहित स्वर्ग में चला गया। यदि पुराण जुए को पाप मानते हैं तो युधिष्ठिर को जुए के कारण मार्ग में क्यों न गिराया? पुराणों ने नल को स्थान-स्थान पर धर्मात्मा क्यों लिखा है? युधिष्ठिर और नल को धर्मात्मा और स्वर्गगामी मानना इस बात को सिद्ध करता है कि पुराण जुए को पाप नहीं मानते। भविष्य और पद्मपुराण में स्पष्टरूप से जुआ खेलने की विधिरूप से आज्ञा विद्यमान है। भविष्यपुराण में लिखा है—

कुर्यान्महोत्सवं राजा दिनानि नव सप्त वा॥ २४॥
वेश्यांगनानरैर्हृष्टैर्द्यूतक्रीडामहोत्सवैः। कर्पूरवस्त्रदानैश्च सम्मानैश्च परस्परम्॥ २६॥
रात्रौ प्रजागरः कार्यो रक्षणाय प्रयत्नतः॥ २७॥ —भविष्य० उत्तरपर्व १३९। २४, २६, २७

अर्थ—राजा को चाहिए कि वह (महेन्द्रध्वज) उत्सव सात या नौ दिन करे॥२४॥ वेश्याएँ और जनसाधारण प्रसन्नता से जुआ खेलने के उत्सवों से, कर्पूर और वस्त्रों के दान से, आपस में एक-दूसरे के सम्मान से॥२६॥ रात्रि में रक्षा की दृष्टि से प्रयत्नपूर्वक जागरण करें—जागते रहें।

यहाँ भविष्यपुराण में इतिहासरूप से जुआ खेलने का वर्णन नहीं है, अपितु विधिरूप से आज्ञा दी है। इसी प्रकार से ही पद्मपुराण में भी जुआ खेलने की स्पष्टरूप से विधिरूप से आज्ञा दी गयी है। देखिए, पद्मपुराण, उत्तरखण्ड अध्याय १२२ में लिखा है कि—दीपावली से अगले दिन अर्थात् प्रतिपदा को जुआ खेले। यदि जीत हो जाए तो वर्षभर जीत रहेगी और—

पराजयेऽविरुद्धं स्यात् प्रतिपद्युदिते रवौ। प्रातर्गोवर्द्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत्॥
—पद्म० उत्तर० १२२.२९

अर्थ—यदि पराजय हो जाए तो वर्षभर हार ही होती रहेगी, अतः आश्विन प्रतिपदा को सूर्य निकलने पर गोवर्धन की पूजा करे और रात्रि को जुआ खेले।

यहाँ इतिहास बिल्कुल नहीं है, अपितु स्पष्टरूप में जुआ खेलने की आज्ञा विद्यमान है। चूँकि जुआ खेलना वेदों के विरुद्ध है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

—:o:—

पोपजी—अस्तु। लाला मनसारामजी ने ये आठ प्रश्न पुराणों पर किये थे कि पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, परन्तु मैंने उनका मुँहतोड़ उत्तर और सर्वाङ्गपूर्ण उत्तर लिखकर सनातनधर्म की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। लाला साहब! पुराण वेदों के अनुकूल ही हैं, इनमें किसी ऐसी बात का वर्णन नहीं कि जिसका वेदों में वर्णन न हो। इसलिए यह सब आप लोगों के अज्ञान, अल्पविद्या और मूर्खता का ही दोष है, अन्यथा पुराण तो सर्वथा वेदानुकूल हैं।

तोपजी—हमने साधारणरूप से केवल आठ प्रश्न पुराणों पर किये थे कि पुराण वेदों के विरुद्ध हैं, परन्तु पोपजी ने इनमें से एक का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। प्रायः पोपजी ने हमारे उद्धरणों को ग़लत कहकर ही अपनी जान बचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु हमें ग़लत अवतरण देने का रोग है ही नहीं, अतः हमने स्थान-स्थान पर पुराणों के मूल अवतरण लिखकर पोपजी के दाँत खट्टे कर दिये हैं और आशा नहीं है कि पोपजी अब इन प्रश्नों के सम्बन्ध में चूँ भी कर सकें। पोपजी ने हमारी पुस्तक का ऊटपटाँग उत्तर लिखकर उलटा सनातनधर्म की स्थिति को उपहास-योग्य बना दिया है, इसलिए अष्टादश पुराण सोलह आना वेदों के विरुद्ध हैं।

अब आपका एक नया दावा है कि 'पुराणों में ऐसी किसी बात का वर्णन नहीं है कि जिसका वर्णन वेदों में न हो।' अब हम पोपजी के इस दावे की भी पड़ताल किये देते हैं

और पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों से सम्बन्धित निम्नाङ्कित बातों को वेदों, शास्त्रों और युक्ति के अनुकूल सिद्ध करके दिखाएँ।

१. शिवपुराण उमासंहिता अध्याय १३, श्लोक ४१ में लिखा है कि पुराण २६ हैं और भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २५ श्लोक २२१ में लिखा है कि पुराण १८ हैं। कोई वेद का प्रमाण देकर सिद्ध करो कि पुराण गिनती में कितने हैं?

२. अट्ठारह पुराण कौन-कौन-से हैं? देवीभागवतपुराण ने शिवपुराण की अट्ठारह पुराणों में गिनती नहीं की तथा नारदपुराण और मत्स्यपुराण भी शिवपुराण की अट्ठारह पुराणों में गणना नहीं करते। मार्कण्डेय और कूर्मपुराण में अग्निपुराण को अट्ठारह पुराणों में नहीं गिना गया। शिवपुराण कहता है कि देवीभागवत अट्ठारह पुराणों में है, परन्तु शेष पुराण श्रीमद्भागवत को अट्ठारह पुराणों में मानते हैं। कृपा करके वेद का कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करो जिसमें यह वर्णन किया गया हो कि अट्ठारह पुराण कौन-कौन-से हैं।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण कहता है कि भविष्यपुराण में १४,५०० श्लोक हैं, भविष्यपुराण स्वयं कहता है कि ५०,००० श्लोक हैं और वर्त्तमान भविष्यपुराण में २६,१०२ श्लोक हैं। ऐसी ही अवस्था सब पुराणों की है, कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करें जिससे पुराणों के श्लोकों की ठीक-ठीक संख्या का ज्ञान हो सके।

४. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय १, श्लोक १०३-१०४ में लिखा है कि पहले सम्पूर्ण अट्ठारह पुराण १२,००० श्लोकों में लिखे गये थे, बाद में उनमें प्रक्षेप होकर श्लोक अधिक हो गये।[1] कृपा करके कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जो भविष्यपुराण के उपर्युक्त लेख का समर्थन करता हो।

५. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व मैं हज़रत आदम, हज़रत नूह, हज़रत मूसा, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद साहब को श्रेष्ठ, धर्मात्मा, ईश्वर का भक्त और अवतार वर्णित किया गया है और मुग़लिया वंश के सब राजाओं को यहाँ तक कि औरंगज़ेब को भी अवतार माना गया है। कृपा करके वह मन्त्र प्रस्तुत करें जिनमें उपर्युक्त व्यक्तियों को अवतार स्वीकार किया गया हो।

६. भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, श्लोक ४१-४२ में लिखा है कि जो सदाचारी और तर्कशील ब्राह्मण हो, देवताओं की पूजा करता हो, विष्णु का भक्त हो, अग्निहोत्र करता हो, अहिंसक हो, तपस्वी हो और जिसका मन वश में हो उसी का नाम म्लेच्छ है। कृपा करके कोई ऐसा वेदमन्त्र बतलाएँ जिसमें उपर्युक्त गुणोंवाले व्यक्ति को म्लेच्छ बताया गया हो।

७. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ३० में लिखा है कि जिस स्त्री के भग पर बाल न हों और समतल हो और संकुचित मार्गवाली हो, वह चाहे नीच कुल में जन्म ले, परन्तु वह अवश्य ही राजा की स्त्री बनेगी। इस लेख के समर्थन में कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत कीजिए।

८. जिस पुरुष का लिङ्ग दायीं ओर झुका हुआ हो, उसके लड़का पैदा होगा और जिसका लिङ्ग बायीं ओर झुका हुआ हो, उसके लड़की पैदा होगी। यह बात भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक २ में लिखी हुई है। कृपा करके बतलाएँ कि यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

९. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १९ में लिखा है कि जिस मनुष्य की

---

१. इस समय अट्ठारह पुराणों की श्लोक-संख्या लगभग चार लाख है। —जगदीश्वरानन्द

गुदा चौड़ी, गदगुदी और चिकनी हो, वह प्रशंसनीय है। यह बात कौन-से वेद में लिखी गयी है?

१०. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक २१ में लिखा है कि जिस मनुष्य के एक अण्डकोश हो, वह पानी में डूबकर मरेगा। इस बात का वर्णन कौन-सा वेदमन्त्र करता है?

११. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ४२ में लिखा है कि जिस स्त्री के स्तन चौड़े, मोटे, कठोर और बहुत ऊँचे न हों, वे उत्तम होते हैं। यह किस वेद की आज्ञा है?

१२. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय २७, श्लोक १२३-१२४ में लिखा है कि महादेवजी ने देवियों को भोजन के लिए कहा कि मेरी नाभि के नीचे गोल-गोल फलों जैसे लम्बे-लम्बे दो अण्डकोश विद्यमान हैं। उनके खाने से बड़ी तृप्ति होगी। ये फल आज तक किसी ने भी नहीं खाये। ये मैं तुम्हें खाने के लिए देता हूँ। कृपा करके बतलाएँ कि इन फलों को खाने की आज्ञा कौन-से वेद में है?

१३. पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय २७२, श्लोक १६७-१६८ में लिखा है कि पूर्वयुग में दण्डक वन में रहनेवाले ऋषियों ने रामचन्द्रजी से भोग करने की इच्छा की। इसलिए वे सब ऋषि गोकुल में आकर गोपियाँ बनकर कृष्ण के साथ भोग करने लगीं। यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

१४. पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय २८२, श्लोक ३१ तक में लिखा है कि एक बार भृगु ऋषि महादेवजी से मिलने गये। द्वार पर नन्दगण ने उन्हें धमकाकर कहा कि इस समय महादेवजी पार्वती से भोग कर रहे हैं। तब भृगु ने शाप दिया कि चूँकि महादेव स्त्री के भोग में लगा हुआ मेरा निरादर करता है, इसलिए इसका रूप भी योनि और लिङ्ग जैसा हो जाएगा। इसलिए ही पार्वती की योनि में शिव का लिङ्ग गाड़ा गया है। यह बात कौन-से वेद में लिखी है?

१५. मत्स्यपुराण अध्याय ४८ में वर्णन है कि राजा बलि ने अपनी स्त्री सुदेष्णा को दीर्घतमा ऋषि के पास सन्तान-प्राप्ति के लिए भेजा, परन्तु सुदेष्णा उसे अन्धा समझकर उसके पास नहीं गयी, अपनी दासी को भेज दिया। राजा ने पुनः दीर्घतमा को प्रसन्न किया तब ऋषि ने कहा कि मेरे सारे शरीर पर दही, नमक और शहद लगाकर सुदेष्णा चाटे तो पुत्र हो सकता है। चुनांचे सुदेष्णा ने ऐसा ही किया, परन्तु ऋषि की गुदा नहीं चाटी और लिङ्ग को खूब चाटा। इससे जो पुत्र हुआ उसके गुदा नहीं थी, परन्तु लिङ्ग बहुत सुन्दर और मोटा-ताज़ा था। कहिए, यह कथा कौन-से वेद में लिखी है?

१६. शब्दकल्पद्रुम कोश में लिङ्ग शब्द पर 'नारद-पञ्चराग' प्रथम अध्याय के नारद-ब्रह्मसंवाद का अवतरण देकर लिखा है कि ब्रह्मा ने पार्वती के विवाह का प्रस्ताव महादेव के साथ किया तो पार्वती ने कहा कि महादेव कल का बच्चा है, वह मेरी तृप्ति कर सकेगा? परन्तु ब्रह्मा ने कहा—'तू देख तो सही, वह तेरी तृप्ति कर देगा।' एक बार शिव ने पार्वती से भोग आरम्भ किया तो पार्वती उसे सहार नहीं सकी और बड़ी दयनीय अवस्था में बोली कि महाराज, मैं आपका भार नहीं सहार सकती, कृपा करके आप मुझे क्षमा करें। यह सुनकर महादेव ने बड़ी प्रचण्डता से मैथुन करना आरम्भ कर दिया। जब सम्भोग पूरा हो गया तब उठने पर दोनों का पारा निकलकर भूमि, स्वर्ग और पाताल में फैल गया। इससे सब लिङ्ग और योनियाँ बन गयीं। इसलिए जहाँ-जहाँ लिङ्ग है वहाँ-वहाँ योनि है और जहाँ-जहाँ योनि है वहाँ-वहाँ शिव है। बतलाइए, यह कथा कौन-से वेद में वर्णित की गयी है?

१७. भागवतपुराण स्कन्ध ९, अध्याय ६, श्लोक २५ से ३१ तक में लिखा है कि राजा

युवनाश्व ने यज्ञ का पानी पी लिया था, उस पानी के पीने से उसे गर्भ हो गया और उसकी दायीं कोख को फाड़कर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मान्धाता था। यह कथा कौन-से वेद में लिखी है?

निष्कर्ष यह कि इस प्रकार की सैकड़ों कथाएँ पुराणों में विद्यमान हैं। आपका यह दावा कि 'पुराणों में जो कुछ लिखा हुआ है, वह सब वेदों में लिखा हुआ है'—सर्वथा ग़लत और झूठा है, चूँकि पुराणों में सहस्रों बातें वेदों के विरुद्ध हैं, इसलिए अष्टादश पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं और पुराण-जैसी अश्लील पुस्तकों को वेदों के अनुकूल बताना प्रथम कोटि की अज्ञानता, अल्पविद्यता, मूर्खता, दुराग्रह, स्वार्थ, धोखा देना और पामरपन है।

सनातनधर्म के छल-कपट से सावधान रहो

पाठक महाशय! आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार 'इन्द्र' नाम परमात्मा, जीवात्मा, राजा और सूर्य का है। ये सब पाखण्ड, अन्याय और अन्धकार के जाल को तोड़नेवाले और सन्मार्ग पर चलानेवाले हैं। इसलिए न ही आर्यसमाजियों का 'इन्द्र' जाल बिछानेवाला है और न ही इससे बचने की कोई आवश्यकता है। हाँ, सनातनधर्म और सनातनधर्म के देवता विष्णु और इन्द्र आदि अवश्य ही छली-कपटी और धोखा देनेवाले हैं, परिणामस्वरूप विष्णु ने छल से वृन्दा का धर्म भ्रष्ट किया और इन्द्र ने छल से अहल्या का सतीत्व भङ्ग किया तथा वर्त्तमान सनातनधर्म भी उसी प्रकार अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलकर जनता को छल-कपट से धोखे में रखने के प्रयत्न में लगा रहता है। सनातनधर्म के पोप वैसे तो अच्छी प्रकार जानते हैं कि पुराण वेदों के विरुद्ध, वाममार्गियों की करतूत और गन्दगी का पुलिन्दा हैं, परन्तु क्योंकि मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि पौराणिक प्रथाओं के कारण इनकी उदर-पूर्ति हो रही है, अतः ये पेट के पुजारी स्वार्थी लोग जनता को पुराणों की आन्तरिक सचाई से सावधान नहीं करना चाहते।

ये पौराणिक, पेट के पुजारी जनता को पुराणों की कथा भी सुनाते हैं तो पुराणों के अश्लील भाग को सर्वथा छोड़ देते हैं। आर्यसमाज ने इस सचाई को प्रकट किया और जनता के समक्ष पुराणों की गन्दगी को प्रकट कर दिया। तब पौराणिक मण्डल ने यह कोलाहल करना शुरू किया कि पुराणों के अर्थ हमारे सिवाय और कोई कर ही नहीं सकता। आर्यसमाज ने पौराणिक पण्डितों की टीकाओं में से भी वही अर्थ जनता के समक्ष प्रस्तुत किये तो अब पौराणिक पोपमण्डल के होशोहवास (संज्ञा और बुद्धि) उड़ गये और कुछ शब्दों के अर्थों को बदलकर जनता को धोखा देना चाहा, परन्तु हम भी पुराणों की पोल खोलने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः हमारे समक्ष पोपमण्डल की यह चालाकी सफल नहीं हो सकती।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृत में ऐसे बहुत-से शब्द विद्यमान हैं, जिनमें से प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इन शब्दों में लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्द भी हैं, परन्तु अर्थ करते समय प्रकरण को देखना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस बात को पोपजी ने भी स्वीकार किया है। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे हमारे द्वारा प्रस्तुत किये हुए अवतरणों में लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्दों के मूत्रेन्द्रिय, वीर्य और वीर्यदान के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखलाएँ। हम जनता को सावधान करना चाहते हैं कि वह पोपमण्डल की धोखे देने और पर्दा डालने की चाल में न आये, अपितु स्वयं मूल ग्रन्थों को पढ़कर प्रकरण के अनुसार उन शब्दों के अर्थ लगाकर पुराणों की गन्दी और अश्लील कथाओं का प्रबल खण्डन करके भारतवर्ष को इस पाप से पवित्र करने का

प्रयत्न करें।

अब हम आपके समक्ष पोपजी के बिछाये हुए छल-कपट के जाल को तार-तार करके दिखाते हैं और पुराणों में आये हुए लिङ्ग, योनि, वीर्य और वरदान शब्दों के अर्थ स्पष्ट करते हैं। न्यायप्रिय महाशय स्वयं ध्यानपूर्वक पढ़कर वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयत्न करें।

१. लिङ्ग—हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि लिङ्ग शब्द का मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त चिह्न अर्थ भी है, परन्तु हमने पुराणों की जितनी भी कथाएँ दी हैं, उनमें प्रकरण के अनुसार लिङ्ग के सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और अर्थ किये ही नहीं जा सकते। इस बात को हम उन्हीं स्थानों पर युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं। जब शिवलिङ्ग से सब ऋषि और ऋषि-पत्नियाँ, सब देवता तथा पृथिवी, स्वर्ग और पातालवासी—सभी भयभीत होकर भाग पड़े तो बेचारे अकेले ऋषि दयानन्दजी की क्या शक्ति थी कि वे ठहर सकते? हाँ, शिवलिङ्ग के समक्ष यदि किसी में ठहरने की शक्ति है तो वे ऋषि-पत्नियाँ, पार्वती और सनातनधर्म की देवियाँ हैं, क्योंकि इनके पास ऐसी वस्तु विद्यमान है कि जिसमें प्रविष्ट होने के पश्चात् शिवलिङ्ग शान्त हो जाता है। शिवलिङ्ग नाम परमात्मा के चिह्न का कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि अशरीरी—निराकार परमात्मा का कोई चिह्न बन ही नहीं सकता और इस बात को हम भली-भाँति सिद्ध कर चुके हैं कि दारु वन की कथा से यह स्पष्ट सिद्ध है कि शिवालयों में जो भग और लिङ्ग की मूर्त्ति है, वह सृष्टि के आरम्भवाले गोलाकार ब्रह्माण्ड की नहीं है, वरन् वह मूर्त्ति तो पार्वती के भग में स्थापित किये हुए शिवजी के लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय की है और इसी की पौराणिक लोग पूजा करते हैं। हम पोपजी को चैलैञ्ज करते हैं कि वह पुराणों के निम्नाङ्कित अवतरणों में आये हुए लिङ्ग शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ—

१. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १-२ में लिखा है कि—

दक्षिणावर्तलिङ्गश्च नरो वै पुत्रवान् भवेत्। वामावर्ते तथा लिङ्गे नरः कन्यां प्रसूयते॥ १॥
स्थूलैः शिरालैर्विषमैर्लिङ्गैर्दारिद्र्यमादिशेत्। ऋजुभिर्वर्तुलाकारैः पुरुषाः पुत्रभागिनः॥ २॥

अर्थ—जिस मनुष्य का लिङ्ग दायीं ओर झुका हुआ हो वह पुत्रवाला होता है और जिस मनुष्य का लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय बायीं ओर झुकी हुई हो, उसके पुत्री उत्पन्न होती है॥१॥ जिनके लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) मोटे, उभरे हुए रगोंवाले और टेढ़े हों वे निर्धनता का शिकार बनते हैं, जिनके लिङ्ग सीधे और लम्बूतरे होते हैं, वे पुत्रवान् होते हैं॥२॥

२. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १७६, श्लोक १८ में लिखा है कि—

कटुतैलं भल्लातकं बृहतीफलदाडिमम्॥ १७॥
वल्कलैः साधितैर्लिप्तं लिङ्गं तेन विवर्धते॥ १८॥

अर्थ—सरसों के तेल को भिलावे, बहेड़े और अनार के छिलकों से सिद्ध करके यदि इसका लेप लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय पर किया जाए तो लिङ्ग बढ़कर लम्बा हो जाता है।

३. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १८०, श्लोक २ में लिखा है कि—

कर्पूरं देवदारुं च मधुना सह योजयेत्। लिङ्गलेपाच्च तेनैव वशीकुर्यात्स्त्रियं किल॥ २॥

अर्थ—कपूर और देवदारु की लकड़ी के बुरादे को शहद में मिलाकर यदि लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय पर लेप करके स्त्री से भोग करे तो इससे निश्चय ही स्त्री को वश में कर लेता है।

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण पुराणों से दिये जा सकते हैं, जिनमें लिङ्ग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय ही है। प्रकरण के विरुद्ध अर्थ करने का प्रयत्न करना और जनता को धोखा देना

महापाप और पामरपन है।

२. **योनि**—हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि योनि शब्द के—शरीर, स्वरूप, घर और स्त्री की भग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय—इतने अर्थ हैं, परन्तु प्रकरण के अनुकूल जहाँ जो अर्थ उचित हों, वही अर्थ लिये जाते हैं। हमने पुराणों के जितने प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रकरणानुसार 'योनि' शब्द के अर्थ स्त्री की मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों के निम्नलिखित अवतरणों में आये हुए 'योनि' शब्द के मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ।

१. भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ७३, श्लोक २८ में लिखा है कि—

ब्रह्मचर्येऽ पवर्तन्त्याः साध्व्या ह्यपि च श्रूयते।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः॥ २८॥

अर्थ—सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करनेवाली सती-साध्वी स्त्री की भी सुन्दर नवयुवक पुरुष को देखकर योनि=मूत्रेन्द्रिय टपकने लग जाती है।

२. शिवपुराण उमासंहिता अध्याय २४, श्लोक ३१ में लिखा है कि—

सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धं मलवर्जितम्। योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ ३१॥

अर्थ—अच्छी प्रकार स्नान किये हुए, इत्र लगानेवाले, स्वच्छता से रहनेवाले मनुष्य को देखकर स्त्रियों की योनि ऐसे टपकने लग जाती हैं जैसे चमड़े की बनी हुई मशक (पात्र) में से पानी टपकने लग पड़ता है।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २३, श्लोक २५ में लिखा है कि जब तिलोत्तमा ने साहसिक को देखा तो—

पुलकाङ्कितसर्वाङ्गं धर्मकर्मसमन्वितम्। बभूव काममत्ताया योनौ कण्डूयनं जलम्॥ २५॥

अर्थ—धर्म-कर्म में युक्त, रोमाञ्चित शरीरवाले साहसिक को देखकर काम में मस्त हुई तिलोत्तमा की योनि में खुजलाहट होने लगी और उसकी योनि से पानी टपकने लगा।

४. भागवतपुराण स्कन्ध १०, अध्याय २२, श्लोक १७ में लिखा है कि—जब कृष्णजी ने गोपियों से कहा कि पानी से बाहर आकर वस्त्र लो, तब—

ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७॥

अर्थ—तब शीत से दुःखी और काँपती हुई वे सब-की-सब गोप-कन्याएँ अपने हाथों से अपनी योनि को ढककर सरोवर से बाहर आयीं।

५. गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय २०२, श्लोक १६ में लिखा है कि—

कर्पूर-मदनफल-मधुकैः पूरितः शिव। योनिः शुभा स्याद् वृद्धाया युवत्याः किं पुनर्हर॥ १६॥

अर्थ—हे शिव! कपूर और मदनफल को पीसकर तथा शहद में मिलाकर यदि स्त्री की योनि में भर दिया जाए तो वृद्धा स्त्री की योनि भी उत्तम हो जाती है, युवति का तो कहना ही क्या है?

आदि-आदि। पुराणों के इन प्रमाणों में योनि शब्द का मूत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ होना सर्वथा असम्भव है।

३. **वीर्य**—हम इस बात को भी स्वीकार कर लेते हैं कि वीर्य शब्द के बल, शक्ति, तेज और मणि अर्थ हैं, परन्तु प्रकरण देखकर जहाँ जो उचित हों वहाँ वही अर्थ लिये जाते हैं। जहाँ पर स्त्री के साथ समागम करने या उसे देखकर वीर्य के स्खलित होकर योनि में प्रविष्ट होने अथवा बहने का वर्णन होगा वहाँ वीर्य का अर्थ मणि के बिना और कुछ हो

ही नहीं सकता। हम सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत की हुई पौराणिक कथाओं में वीर्य के अर्थ मणि ही हैं। हम पोपजी को पुनः चैलैञ्ज करते हैं कि वे पुराणों के निम्न प्रमाणों में आये हुए वीर्यशब्द के मणि के अतिरिक्त और कोई अर्थ करके दिखाएँ।

१. शिवपुराण रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड अध्याय ४९, श्लोक ७-८ में लिखा है कि—जब ब्रह्माजी पार्वती के साथ महादेवजी का विवाह करवा रहे थे, तो पार्वती को देखकर ब्रह्माजी स्खलित हो गये। इसका वर्णन ब्रह्माजी अपने पुत्र नारद को स्वयं सुनाते हैं—

ततस्तद्दर्शनात्सद्यो वीर्यं मे प्राच्युतद् भुवि॥ ७॥

रेतसा क्षरता तेन लज्जितोऽहं पितामहः। मुने व्यमर्दं तच्छिश्नं चरणाभ्यां हि गोपयन्॥ ८॥

अर्थ—तब उस पार्वती को देखते ही बहुत शीघ्र मेरा वीर्य अर्थात् मणि भूमि पर गिर पड़ा। हे मुने! मैं ब्रह्मा इस वीर्य के इस प्रकार क्षरित होने से लज्जित हो गया। तब मैंने अपने लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय को पाँवों में छिपाकर बीज को वहीं मसल दिया।

२. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ३, श्लोक १७ में श्रीकृष्ण का विरजा में गर्भाधान का वर्णन इस प्रकार लिखा हुआ है कि—

विरजा सा रजोयुक्ता धृत्वा वीर्यममोघकम्। सद्यो बभूव तत्रैव धन्या गर्भवती सती॥ १७॥

अर्थ—रजोधर्म से निवृत्त हुई विरजा कृष्ण के अमोघ (कभी निष्फल न जानेवाले) वीर्य को धारण करके तुरन्त गर्भवती होकर सौभाग्यवती हो गयी।

३. ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ७२, श्लोक ६३ में लिखा है कि कृष्ण ने सारी रात कुब्जा के साथ कामक्रीड़ा की। उसके स्तनों को घायल कर दिया, होटों को काट खाया, उसे गोद में लेकर नंगा किया और बग़ल में लेकर खूब भोग किया। तब—

निशावसानसमये वीर्याधानं चकार सः। सुखसंभोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी॥ ६३॥

अर्थ—रात्रि की समाप्ति पर कृष्ण ने कुब्जा में वीर्याधान कर दिया। वह कुब्जा सुखपूर्वक भोग करने से मूर्च्छा को प्राप्त हो गयी।

४. ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय १०, श्लोक १२६-१२७ में लिखा है कि—

गच्छन्तीं तीर्थयात्रायां ब्राह्मणीं रविनन्दनः। ददर्श कामुकः शान्तः पुष्पोद्याने च निर्जने॥ १२६॥

तया निवारितो यत्नाद् बलेन बलवान् सुरः। अतीव सुन्दरीं दृष्ट्वा वीर्याधानं चकार सः॥ १२७॥

अर्थ—सूर्य के पुत्र ने तीर्थयात्रा के लिए जाती हुई एक ब्राह्मणी को एक निर्जन पुष्पवाटिका में देखा। उसे देखकर शान्त रवि-नन्दन काम से पीड़ित हो गया। उस स्त्री के यत्नपूर्वक मना करने पर भी उसने उसे अत्यन्त सुन्दरी जानकर उसमें वीर्याधान कर दिया—उसे गर्भवती कर दिया।

निष्कर्ष यह कि पुराणों में इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें वीर्य शब्द के मणि के बिना और कुछ अर्थ किये ही नहीं जा सकते। ऐसे-ऐसे प्रकरणों में भी वीर्य शब्द के मणि के अतिरिक्त और अर्थ करने को पोपजी की मूर्खता, अज्ञान और धोखा देने के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

४. **वरदान**—अब रह गयी केवल वरदान की समस्या। इसके सम्बन्ध में हमारे सनातनधर्मी भाई मानते हैं कि केवल किसी के कह देने से ही किसी का कार्य-सम्पन्न हो जाना वरदान का प्रभाव है, परन्तु हमारे भाइयों का यह विश्वास सर्वथा ग़लत और लचर है, क्योंकि जिस कार्य के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता है, जब तक उस काम के लिए वह क्रिया न की जाए तब तक उसका होना असम्भव बात है। उदाहरण के रूप में किसी स्त्री के गर्भ से सन्तान तभी उत्पन्न हो सकती है जब कोई पुरुष उसके साथ मैथुन करे।

केवल मुख से कह देने से कि तुम्हारे सन्तान हो जाएगी, किसी भी स्त्री के सन्तान पैदा नहीं हो सकती जब तक कि विधिपूर्वक उसके साथ मैथुन करके गर्भाधान न किया जाए।

योगी लोग चाहे लाख तप करें और लाख ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करें, परन्तु वे प्रकृति के नियमों को तोड़ने की शक्ति नहीं रखते। योगी तो भला मनुष्य हैं, ईश्वरीय नियमों को तो स्वयं ईश्वर भी नहीं तोड़ सकता, क्योंकि यदि वह तोड़े तो वह ईश्वर कहलाने का अधिकारी नहीं रहता, अतः ईश्वर भी अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। ऋषि दयानन्दजी ने अपने भाष्य में कहीं भी नहीं लिखा कि योगी ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कोई काम कर सकता है। इस बात का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। भागवतपुराण और कल्किपुराण की लीलाओं को रहने दें। जैसे अन्य पुराणों में गप्पाष्टक भरे हैं, ऐसे ही इनमें भी भरे पड़े हैं। इसलिए केवल किसी के कह देने से किसी के कार्य का होना सम्भव नहीं है, जब तक उस काम के योग्य क्रिया न की जाए।

हमारे विचार में वरदान का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति किसी की इच्छा के अनुसार किसी कार्य को करने की प्रतिज्ञा करे और वह उस कार्य को कर दे, इसी का नाम वरदान है। जैसे कैकेयी को राजा दशरथ ने दो वर दिये थे, अर्थात् उसने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारे दो कार्य कर दूँगा और अवसर आने पर कैकेयी ने दशरथ से इन दो वरों को पूरा करने की प्रार्थना की। जब तक राजा दशरथ ने स्वयं क्रियात्मकरूप से उन दोनों वरों को पूरा करने के लिए राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजगद्दी देने के सम्बन्ध में काम नहीं किया तब तक केवल वरों के देने से कुछ भी नहीं बना। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वरदान का अर्थ किस कार्य को करने की प्रतिज्ञा और उसे पूर्ण करने का प्रयत्न है। इसलिए व्यासजी का किसी देवी को सन्तान के बारे में वरदान देने का यही तात्पर्य है कि व्यासजी ने उस स्त्री का वर अर्थात् पति बनकर वीर्यदान से सन्तान देने की प्रतिज्ञा की और उन्होंने रात्रि में विधि-विधानानुसार महलों में प्रविष्ट होकर अम्बिका, अम्बालिका और दासी से समागम करके उनमें गर्भाधान करके अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण किया। इस बात को हम नियोग-प्रकरण में स्पष्टरूप से सिद्ध कर आये हैं। व्यासजी जैसे ऋषि द्वारा आचरित नियोग को व्यभिचार कहना दुष्ट, व्यभिचारी और पामर व्यक्तियों का ही काम हो सकता है।

महाभारत में व्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से नियोग करके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न किया। इस सम्बन्ध में महाभारत में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है। पहले सत्यवती ने भीष्म से नियोग करने के लिए कहा, परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इन्कार कर दिया, फिर व्यासजी को बुलाया गया और विधिपूर्वक नियोग की विधि द्वारा व्यासजी ने वरदान अर्थात् पति बनकर वीर्यदान से सन्तान उत्पन्न की। महाभारत में 'नियोग' शब्द स्पष्ट विद्यमान है। इसलिए महाभारत आदिपर्व अध्याय २, श्लोक १०० में पड़े हुए वरदान शब्द का वही अर्थ है जो हमने ऊपर दिया है, अन्यथा व्यासजी को विधिपूर्वक महलों में जाकर समागम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अब रहा आपका यह प्रमाण कि—

न मैथुनेन सम्भूता निष्पापाः पाण्डवा अभवन्॥[१]

अर्थात् पाण्डवों की उत्पत्ति मैथुन से नहीं हुई, अतः वे निष्पाप हैं।

यह भी आपने उद्योगपर्व के नाम से कल्पित पाठ अङ्कित कर दिया है, अन्यथा आपको उद्योगपर्व के अध्याय और श्लोक की संख्या देनी चाहिए थी, परन्तु 'चोर की दाढ़ी में

१. यह श्लोक उद्योगपर्व की तो बात ही क्या, सम्पूर्ण महाभारत में कहीं नहीं है। —सम्पादक

तिनका' वाली बात हुई। हमने तुरन्त भाँप लिया कि यह पोपजी का अपना आविष्कार है, इसीलिए इसका सन्दर्भ अङ्कित नहीं किया गया, परन्तु यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि यह पाठ महाभारत में विद्यमान है तो भी पोपजी का इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इस श्लोक में 'निष्पापा:' विशेषण आने से स्पष्ट सिद्ध है कि यहाँ मैथुन का तात्पर्य सम्भोग नहीं अपितु व्यभिचार है। इसलिए इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि "पाण्डव व्यभिचार से पैदा नहीं हुए, अपितु वे निष्पाप हैं, अर्थात् उनका जन्म विधिपूर्वक नियोग की विधि से हुआ है।"

इसलिए हम जनता से प्रार्थना करते हैं कि वह इस पोपमण्डल की धोखेबाज़ियों और चालाकियों से सावधान रहे और स्वयं पुराणों को पढ़कर उसके अर्थों पर विचार करे और वास्तविक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करे। हम पोपमण्डल को डंके की चोट बतलाना चाहते हैं कि अब जनता मूर्ख नहीं रही और न ही वह आँखें बन्द करके इस पोपमण्डल पर अन्धश्रद्धा कर सकती है। अब प्रकाश का युग है। जनता संस्कृतभाषा और अन्य विद्याओं से भी सुपरिचित है। इस प्रकाश के युग में सत्य पर पर्दा डालने से पुराण और पौराणिक धर्म अब जीवित नहीं रह सकता। इसे जीवित रखने का एक ही उपाय है कि वेदों को स्वत:प्रमाण मानकर पुराणों का संशोधन किया जाए और इनके अन्दर से राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि ऋषि-महर्षि और पूर्वजों पर मद्यपान, मांसभक्षण और व्यभिचार आदि के दोष लगानेवाली कथाओं को सर्वथा निकाल दिया जाए, अथवा इन गन्दगी के पुलिन्दों और पूर्वजों को लाञ्छित करनेवाली अष्टादश पुराणों को दियासलाई दिखा दी जाए और केवल वेदों को ही धर्म का आधार माना जाए।

परमात्मा वह दिन बहुत शीघ्र हमारे समक्ष लाये कि हमारे पथ-भ्रष्ट पौराणिक भाई इन चालाकियों और सत्य पर पर्दा डालने की कुचेष्टा को तिलाञ्जलि देकर तथा अष्टादश पुराणों को वेद के विरुद्ध समझते हुए उन्हें गङ्गा की भेंट करके वैदिक धर्म की शरण में आएँ और इसके अनुसार आचरण करते हुए मोक्ष के भागी बनें।

पुराणों के ढोल की पोल

—श्री सन्तरामजी भजनोपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब

सुनो तुम ग़ौर[१] से भाइयो पुराणों का बयाँ[२] सारा,
हुए जब से हैं ये जारी बढ़ा व्यभिचार है भारा।
पढ़ो इस भागवत को तुम कि जो है मोक्ष का दाता,
दशम स्कन्ध पढ़ने से ही जीवन से हो निस्तारा[३]॥
कृष्ण को क्या लिखा इसमें दुराचारी व व्यभिचारी,
कि नङ्गी देखता सखियाँ था उसको शौक यह भारा।
खेलते गैंद यमुना में गिरी जब के (कि) मुरारी की,
बजाए एक के उसने था दो गेंदों पै कर[४] मारा॥
पढ़ो तुम शिवपुराँ[५] प्यारो कि इसमें है सिफ़्त[६] किसकी,
बढ़ाकर लिङ्ग को शिव ने जिधर चाहा उधर मारा।
महाभारत में लिखा है सनातनधर्म कैसे हो,
अमल[७] वैसा बनाओ तुम जो उद्दालक ने था धारा॥

---

१. ध्यान, २. वर्णन, ३. छुटकारा, ४. हाथ, ५. शिवपुराण, ६. गुण, ७. आचरण।

गये जब देवता इन्द्र मुनि-गोतम के घर शब[1] को,
अहल्या उनकी पत्नी से किया था उसने मुँह काला।
भविष्य की गर कथा कह दूँ तो काँप उठोगे चीखोगे,
'संज्ञा' की कथा पढ़ लो है काफी[2] ये ही इशारा॥
किया व्यभिचार बेटी से ब्रह्मा, शिव ने भगिनी से,
ब्याह करता है माँ अपनी से विष्णु-जैसा अवतारा॥
पराशर महायोगी की पढ़ देखो कथा प्यारी,
कुँवारी सत्यवती से पुराणकर्त्ता व्यास कर डाला॥
लगे शिव-ब्याह पढ़ने मस्ती से जबकि ब्रह्माजी,
सती को देखते ही निकल ब्रह्मा का गया पारा॥
थी राधा कृष्ण की मामी पढ़ो देखो पुराणों में,
कुब्जा से ज़िना[3] करके था उसको जान से मारा॥
करोड़ों मारकर गौएँ ब्राह्मण खूब खाते थे,
शराब उड़ती थी महफ़िल में कृष्ण का था शुग़ल[4] प्यारा॥
कृष्ण की गोपिकाएँ थीं ये पिछले जन्म में सारी,
जो बनकर वेश्याएँ आज करती हैं गुनाह भारा॥
वेश्याओं की मुक्ति का लिखा साधन 'भविष'[5] में है,
ब्राह्मण को मुफ़त·····हाँ दिन हो खास इतवारा[6]॥
कहाँ तक 'सन्त' वर्णन हो हयादारी[7] रुकावट है,
शरण अब वेद की आओ लगाकर ओम् का नारा॥

भ्रमोच्छेदन

प्रिय पाठक महाशय! शास्त्रों ने इस बात का वर्णन किया है कि किसी पुस्तक के वाक्यार्थ को समझने के लिए चार बातों को दृष्टि में रखना अत्यावश्यक है। वे चार बातें हैं—१. आकांक्षा, २. योग्यता, ३. आसत्ति और ४. तात्पर्य। जब तक इन बातों का ध्यान रखकर पुस्तक की पदावली को न पढ़ा जाए तब तक पुस्तक के वाक्यों का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। हम जनता की जानकारी के लिए इन चारों बातों की व्याख्या कर देते हैं।

१. '**आकांक्षा**' नाम इच्छा का है। जैसे बोलने और सुननेवाले की विषय को जानने की इच्छा होती है, वैसे ही वाक्यों में भी शब्दों की परस्पर आकांक्षा होती है, अर्थात् जब तक किसी शब्द के साथ इच्छानुसार दूसरे शब्दों को न मिलाया जाए, तब तक वाक्य अपूर्ण रहता है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति बोलता है—'घोड़ा'। अब इस घोड़े शब्द को दूसरे शब्दों की आवश्यकता है। जब तक और शब्द इसके साथ न जोड़े जाएँ तब तक केवल घोड़ा कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता; केवल 'घोड़ा' शब्द कहने से क्या पता लगे कि कहनेवाले की क्या इच्छा है। वह 'घोड़ा लाओ' कहना चाहता है या 'घोड़ा ले-जाओ', 'घोड़ा क्रय करो', 'घोड़ा बेचो', 'घोड़ा आता है', 'घोड़ा कूदता है', 'घोड़ा दौड़ता है'—कहना चाहता है। निष्कर्ष यह कि जब तक घोड़ा शब्द के साथ कोई और शब्द न जोड़ा जाए तब तक बोलनेवाले के तात्पर्य को नहीं जाना जा सकता। इस वाक्यार्थ-बोध को 'आकांक्षा' कहते हैं।

२. '**योग्यता**' का अर्थ है क्षमता। जिस वस्तु में जो योग्यता हो वही समझना, जैसे

---

१. रात्रि, २. पर्याप्त, ३. व्यभिचार, ४. धन्धा, ५. भविष्यपुराण, ६. रविवार, ७. लज्जा।

जल में सींचने की योग्यता है और अग्नि में जलाने की क्षमता है तो इन दोनों को वैसा ही समझना योग्यता है, परन्तु पानी को जलानेवाला और आग को सींचनेवाला समझना योग्यता के विरुद्ध है।

३. '**आसत्ति**' निकटता का नाम है। जिस शब्द का जिस शब्द के साथ सम्बन्ध हो, उसे उसी के साथ बोलना आसत्ति कहलाती है। इसके विरुद्ध करना आसत्ति के विरुद्ध है। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति ने देसी खाँड की दुकान खोली और अपनी दुकान पर यह बोर्ड लिखकर लगाया कि—"यहाँ पर देसी खाँड बिकती है।" अब लिखनेवाले का तो यह तात्पर्य है कि "यहाँ पर—देसी खाँड मिलती है", परन्तु पढ़नेवाला इसे इस प्रकार पढ़ता है कि "यहाँ परदेसी खाँड मिलती है।" अब देखिए, यहाँ पर केवल '**पर**' शब्द को 'यहाँ' के साथ न पढ़कर 'देसी' के साथ मिलाकर पढ़ने से दुकानदार का तात्पर्य सर्वथा उलट जाता है और ग्राहकों पर उलटा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार पदों को यथा-स्थान बोलने का नाम आसत्ति है।

४. '**तात्पर्य**' नाम प्रयोजन का है। बोलनेवाले ने जिस प्रयोजन के लिए कोई लेख लिखा है, उससे वही अर्थ ग्रहण करना तात्पर्य कहलाता है, उसके विरुद्ध कल्पना करना 'तात्पर्य' के विरुद्ध है। जैसे एक व्यक्ति का जूता टूट गया था। वह बाजार में जूता खरीदने के लिए गया, परन्तु उसे सारे नगर में जूता नहीं मिला। सायंकाल वह अपने एक मित्र के घर गया और उससे कहने लगा—"यार! यह नगर कितना निकम्मा है कि यहाँ जूते भी नहीं मिलते?" मित्र ने हँसकर उत्तर दिया कि—"आपका सिर सलामत (सुरक्षित) चाहिए, जूतों की क्या कमी है?" अब तनिक ध्यान दीजिए कि उसने तो पैर के लिए जूतों की चर्चा की थी, परन्तु इसके मित्र ने उसके तात्पर्य के विरुद्ध सिर के लिए जूतों का प्रयोग करके उपहास बना लिया और इससे वास्तविक अर्थ में कितना अन्तर पड़ गया! इसे तात्पर्य कहते हैं।

जो व्यक्ति इन चारों बातों को दृष्टि में रखकर किसी लेखक के ग्रन्थ को पढ़ता है, वह उस लेखक के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझता है, परन्तु जो व्यक्ति इन चारों बातों को उपेक्षित करके स्वार्थ, पक्षपात और बेईमानी से लेख को तोड़-मरोड़कर अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए जनता को धोखा देता है, वह महापापी, आत्म-विक्रयी और नरक का अधिकारी है, जैसाकि यजुर्वेद में लिखा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—यजुः० ४०।३

अर्थ—जो लोग अपनी आत्मा का हनन करते हैं—आत्मा के विरुद्ध कार्य करते हैं, वे इस जीवन में भी और मृत्यु के पश्चात् भी ऐसे स्थानों को प्राप्त करते हैं, जो गाढ़ अन्धकार से ढके हुए हैं और जिनमें राक्षस लोग निवास करते हैं।

हम इस बात को बिना झिझक के स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट लिख देना चाहते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के विषय में पौराणिक पोपमण्डल पूर्णरूप से आत्म-विक्रय से काम ले-रहा है और उपर्युक्त चारों बात को पृथक् रखकर स्वामीजी के ग्रन्थों की भाषा को तोड़-मरोड़कर स्वामीजी के तात्पर्य के विरुद्ध अर्थ निकालकर जनता को धोखे में डालने के प्रयत्न में कटिबद्ध रहता है। उदाहरण के रूप में—

१. यजुर्वेद (३२।३) के भाष्य में स्वामीजी का लेख है कि—"उस परमेश्वर की प्रतिमा, परिमाण, उसके तुल्य, अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति वा आकृति नहीं है।" एक बार की बात है कि खुत्तरा लोवाँ, तहसील सिरसा, जिला हिसार में आर्यसमाज के उत्सव पर पौराणिकों के साथ 'मूर्त्तिपूजा' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। सहस्रों की संख्या में

जाट विद्यमान थे। आर्यसमाज की ओर से पं० आर्यमुनिजी और सनातनधर्म की ओर से पं० लक्ष्मीचन्दजी कौल-निवासी थे। आर्यसमाज के पण्डित ने युक्ति और प्रमाणों से पौराणिक पण्डित की बोलती बन्द कर दी। तब पौराणिक पण्डित ने तंग आकर कहा कि यदि हम स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में से मूर्त्तिपूजा दिखा दें तब तो मानोगे? लोगों ने कहा—बिल्कुल ठीक है, अवश्य मानेंगे। तब पौराणिक पण्डित ने स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य उठाया और उपर्युक्त लेख में से 'मूर्त्ति' शब्द पर अंगुली रखकर दो-चार साधारण भाषा जाननेवालों को दिखा दिया कि देखो, यह मूर्त्ति लिखा है या नहीं? उन्होंने कहा—हाँ, मूर्त्ति तो अवश्य लिखा है। बस, यह सुनते ही सनातनियों ने ताली बजा दी और सनातनधर्म की जय के घोष लगाते हुए चम्पत हो गये, जिससे जनता में बहुत-सी भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी। यह उपाय आकांक्षा के सर्वथा विरुद्ध है और निश्चितरूप से आत्म-विक्रय है।

२. स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद [२१।६०] के भाष्य में लिखा है कि—"ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें [उपयोग लें]।" और यजुर्वेद [६।१४] के भाष्य में लिखा है कि—"हे शिष्य! उत्तम शिक्षाओं से, मैं तेरी, जिससे रक्षा की जाती है, उस गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करता हूँ—समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ।" परन्तु पोपमण्डल यह कहकर जनता में भ्रान्ति फैलाता है कि स्वामीजी ने बैल और शिष्य से मैथुन करना लिखा है। यद्यपि स्वामीजी ने 'भोग करें' के अर्थ 'उपयोग लें' और शुद्ध करता हूँ के अर्थ 'धर्मानुकूल करता हूँ' लिख भी दिये हैं और बैल तथा शिष्य मैथुन की योग्यता भी नहीं रखते, परन्तु पोपमण्डल है कि बार-बार बैल और शिष्य से मैथुन की ही रट लगाता हुआ चला जाता है। यह शैली 'योग्यता' के सरासर विरुद्ध होने से धोखा देने का पर्यायवाची है।

३. स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में लिखा है कि—

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जाएँ तो व्याघ्र आदि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएँ और तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाए।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

उत्तर—चाहे फेंक दें चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, **किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य है।**

इस सारे लेख को एक-साथ पढ़ने से स्पष्ट पता लगता है कि स्वामीजी मरे हुए के मांस को खाना भी इसलिए अभक्ष्य बतलाते हैं कि इससे मांस-भक्षण का स्वभाव होकर उस व्यक्ति का स्वभाव हिंसक होना सम्भव है और हिंसा से प्राप्त की हुई वस्तु का प्रयोग अभक्ष्य है, परन्तु पोपमण्डल के आत्म-विक्रय का अवलोकन कीजिए। वे सत्यार्थप्रकाश का इतना पाठ सुना देते हैं जो हमने पतले अक्षरों में दिया है और इससे जनता में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं कि स्वामीजी ने मरे हुए पशुओं और मनुष्यों का मांस खाने की आज्ञा दी है। यद्यपि अगले पाठ को जो मोटे अक्षरों में दिया है, पढ़कर यह भ्रान्ति तुरन्त दूर हो जाती है। पोपजी की यह शैली आसत्ति के सरासर विरुद्ध होने से जालसाज़ी (कूटकर्म) ही है।

४. स्वामीजी ने संस्कार-विधि में मुण्डन-संस्कार में लिखा है—

''ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः॥''

इस मन्त्र को बोलके उस्तरे को दाएँ हाथ में लेवे।

संस्कार-विधि में केवल इतना ही पाठ है। न वहाँ मन्त्र का अर्थ किया गया है और न ही कहीं पूजा शब्द है, परन्तु पोपमण्डल ने इसपर आकाश सिर पर उठा रक्खा है कि स्वामीजी ने संस्कार-विधि में उस्तरे की पूजा लिखी है। जब स्वामीजी ने सैकड़ों स्थानों पर मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया है, तब स्वामीजी की मनसा के विपरीत उनके लेख का अर्थ लगाना सरासर उनके तात्पर्य के विरुद्ध होने से छल-कपट और पामरपन है।

ये हमने नमूने (बानगी) के रूप में चार उदाहरण दे दिये हैं कि पोपमण्डल इस प्रकार से स्वामीजी के ग्रन्थों के सम्बन्ध में आत्म-विक्रय करके नरक का भागी बन रहा है और फिर सत्यार्थप्रकाश के सन् १८७५ के प्रथम संस्करण और संस्कार-विधि को भी जनता में पढ़कर जनता में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। यद्यपि पोपमण्डल ने ही इनमें पौराणिक शिक्षा का प्रक्षेप कर दिया था और जब स्वामीजी को पता चला तो स्वामीजी ने विज्ञापन द्वारा तुरन्त उनका खण्डन कर दिया था और उनकी जितनी प्रतियाँ मिल सकीं उन सबको जला दिया तथा सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि को फिर से शुद्ध करके छपवाया और उनकी भूमिका में भी लिख दिया कि प्रथम संस्करण अशुद्ध छप गया था, अब उसे शुद्ध करके प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु फिर भी पोपमण्डल उन्हें जनता के समक्ष प्रस्तुत करके कोलाहल करता ही रहता है। जब समष्टिरूप से सारा आर्यसमाज उन्हें जलाने योग्य और रद्द की हुई मानता है, ऐसी स्थिति में किसी को भी आर्यसमाज के समक्ष इन पुस्तकों का प्रमाण देने का अधिकार शेष नहीं रहता।

निष्कर्ष यह कि पोपमण्डल छल-कपट, धोखेबाज़ी और कूटनीति से स्वामीजी के ग्रन्थों की भाषा को तोड़-मरोड़कर सर्वथा बेहूदा और व्यर्थ के प्रश्न करता रहता है। आर्यसमाज की ओर से इन प्रश्नों का मुँहतोड़ उत्तर सैकड़ों बार दिया जा चुका है। उन्हीं लचर, बेहूदा और व्यर्थ के प्रश्नों को पोपजी ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर संग्रहीत कर दिया है। यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर देना अपने समय और योग्यता का सर्वथा अनुचित उपयोग करना है, फिर भी जनता के सन्तोष के लिए हम इन प्रश्नों का उत्तर लिख देते हैं। पाठक इन उत्तरों को पढ़कर आनन्द उठाएँ।

१. पोपजी—अथर्ववेद (१९।९।१०) में चन्द्रमा और राहु आदि ग्रहों का वर्णन है, परन्तु इस वेद की आज्ञा के विरुद्ध स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास के पृष्ठ ३१ पर इन ग्रहों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—स्वामी दयानन्दजी ने चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर, राहु, केतु, सूर्य आदि नामवाले नक्षत्रों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया, अपितु स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में यह सिद्ध किया है कि वेदों में जहाँ पर स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वर्णन होगा वहाँ पर ये चन्द्र-मङ्गल आदि नाम नक्षत्रों के नहीं होंगे, अपितु वहाँ पर ये सारे नाम मौलिकरूप से ईश्वर के ही होंगे और जहाँ पर वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रकरण में ये नाम होंगे वहाँ इन नामों से नक्षत्रों का ग्रहण होगा। सत्यार्थप्रकाश में ग्रहों का खण्डन नहीं अपितु याथातथ्य वर्णन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के अनुकूल है।

हाँ, क्योंकि ऋग्वेद (१०।१९०।३) में सूर्य-चन्द्रमा आदि इन सब ग्रहों की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में वर्णित है और पुराणों में इनकी उत्पत्ति विभिन्न समय पर सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् वर्णित की गयी है, जैसाकि बुध को चन्द्रमा का पुत्र लिखा है आदि-आदि, इसलिए पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

२. पोपजी—यजुर्वेद (३४।५१) में मन्त्र और डोरा आदि बाँधने से आत्मा की रक्षा बतलायी है, परन्तु वेद की इस आज्ञा के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास पृष्ठ ३३ पर मन्त्र पढ़कर डोरा बाँधना और यन्त्र आदि डालने का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र[1] में यन्त्र-मन्त्र और डोरे-धागे की चर्चा तक भी नहीं है। इसमें तो मनुष्यों को आयु बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य धारण करने और विद्या पढ़ने का उपदेश दिया गया है। यजुर्वेद अध्याय ३६, मन्त्र २३ में शारीरिक रक्षा के लिए ओषधियों का प्रयोग करने की आज्ञा है और यजुर्वेद (३६।३) में आत्मा की रक्षा के लिए परमात्मा की उपासना की आज्ञा है, अतः यन्त्र डालना और डोरा बाँधना पाखण्ड तथा वेद के विरुद्ध है, इसलिए इनका खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और इस पाखण्ड के करने की आज्ञा देनेवाले अष्टादश पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

३. पोपजी—निरुक्त [२.४] में एक वेदमन्त्र का अर्थ करते हुए आर्यसमाज के वेदभाष्यकार पं० राजारामजी लिखते हैं कि—ब्राह्मणों को वेदविद्या की रक्षा करनी चाहिए और प्रत्येक को यह विद्या नहीं देनी चाहिए, परन्तु इस मन्त्र के आर्यसमाजी भाष्य के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्दजी ने शूद्र और चाण्डाल तक को वेद पढ़ने की आज्ञा दी है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—निरुक्त के इस पाठ[2] में यह बिल्कुल नहीं लिखा कि शूद्रों और चाण्डाल को विद्या न पढ़ानी चाहिए, अपितु यह लिखा कि "ईर्ष्या करनेवाले, कुटिल और दुराचारी को मेरा उपदेश न कर और न विद्या पढ़ा।" दुराचारी चाहे ब्राह्मण आदि कोई भी हो, उसे विद्या पढ़ाने का निषेध और सदाचारी को पढ़ाने की आज्ञा है तथा यजुर्वेद [२६।२] में प्रत्येक मनुष्य को वेद पढ़ने और पढ़ाने की आज्ञा है, अतः शूद्र और चाण्डाल को वेद पढ़ने की आज्ञा देनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और स्त्री तथा शूद्रों को वेद पढ़ाने का निषेध करनेवाले अट्ठारह पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

४. पोपजी—यजुर्वेद [३६।२३ तथा ३।१७] में और सामवेद प्रपाठक १, खण्ड २, मन्त्र १ में ईश्वर से प्रार्थना के द्वारा और ईश्वर का नाम-स्मरण करने से पापों से छुटकारा माना गया है और ईश्वर के नाम-स्मरण से धन, आयु, स्वास्थ्य की प्राप्ति होने तथा अल्पायु की मृत्यु से बचने का वर्णन है, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि मन्त्र जपने से और ईश्वर का नाम रटने से पापों की निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् मीठा-मीठा कहने से मुँह मीठा नहीं होता, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—उपर्युक्त तीनों[3] ही मन्त्रों में इस बात की चर्चा बिल्कुल नहीं है कि केवल

---

१. मन्त्र के शब्द ये हैं—**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥** —यजुः० ३४।५१

२. निरुक्त का मूलपाठ यह है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

३. ये तीनों मन्त्र क्रमशः ये हैं—

(क) **सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥** —यजुः० ३६।२३

(ख) **तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्मऽआपृण॥** —यजुः० ३।१७

(ग) **नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय॥** —सा० ११

प्रार्थना करने से ही धन, आयु और स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाती है और न ही इस बात की चर्चा है कि केवल ईश्वर का नाम जपने से पापों से छुटकारा हो जाता है, अपितु प्रथम मन्त्र में ओषधियों के प्रयोग की आज्ञा है और मन्त्र दो तथा तीन में परमात्मा से स्वास्थ्य, आयु, तेज, बल, बुद्धि और शत्रुओं से रक्षा की प्रार्थना की गयी है। कोई वस्तु केवल प्रार्थना से नहीं मिला करती, वरन् उसके लिए कर्म अर्थात् प्रयत्न आवश्यक है। इसलिए यजुर्वेद (४०।२) में उपदेश है कि सब मनुष्यों को कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। नाम-स्मरण का यही फल है कि परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानकर बुरे कार्यों से बचा जाए, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा और प्रार्थना के साथ कर्म करने से फल की प्राप्ति होगी, अतः सत्यार्थप्रकाश का लेख ठीक और वेदों के अनुकूल है। चूँकि पौराणिकों में नाम-स्मरण से पापों का दूर होना और केवल प्रार्थना से ही फल की प्राप्ति का वर्णन है, अतः अष्टादश पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

५. पोपजी—यजुर्वेद [३१।३] में ईश्वर को शरीरधारी माना गया है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में वेदों के विरुद्ध ईश्वर को अशरीरी लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र[1] में ईश्वर को शरीरधारी नहीं कहा गया है, अपितु इसमें यह बतलाया है कि यह सारा जगत् परमात्मा की अपेक्षा बहुत ही तुच्छ है। परमात्मा इस जगत् से बाहर भी असीमरूप में व्यापक है और यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र ८ में स्पष्ट शब्दों में परमात्मा को **अकायम्**=शरीररहित कहा गया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और परमात्मा को शरीरधारी बतानेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

६. पोपजी—ऋग्वेद अनुवाक ७, अध्याय ८, मन्त्र १८० में ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने भगवान् की मूर्त्ति का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—ऋग्वेद के सातवें अनुवाक में अध्याय ८ और वर्ग २७ हैं और इन वर्गों में से किसी में भी १८० मन्त्र नहीं हैं। आपको पता ठीक लिखना चाहिए, यूँ ही सटल्लेबाज़ी से बेचारे सनातनधर्मियों की आँखों में धूल झोंकना उचित नहीं है। हम डंके की चोट घोषणा करते हैं कि चारों वेदों में एक भी मन्त्र ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन करनेवाला नहीं है, प्रत्युत यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र ३ में स्पष्ट लिखा है कि परमात्मा की मूर्त्ति नहीं है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और परमात्मा की मूर्त्ति का वर्णन करनेवाले अट्ठारह पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

७. पोपजी—अथर्ववेद काण्ड ८, सूक्त ६, मन्त्र १ से सारे सूक्त में भूतयोनि का वर्णन है और इनके आवेश को दूर करने के लिए उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने भूतयोनि का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस सारे सूक्त में स्वयंवर का वर्णन है और बताया है कि कन्या का रोगी पुरुष के साथ विवाह नहीं करना चाहिए। इस सूक्त में भूतयोनि का नाम व चिह्न भी नहीं है। चूँकि यजुर्वेद [४।१५] में लिखा है कि मरने के पश्चात् मनुष्य का जीव कर्मों के अनुसार दूसरी योनि को प्राप्त करता है और यजुर्वेद अध्याय ३१ में संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, परन्तु भूतयोनि की

---

१. मन्त्र यह है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

—यजुः० ३१।३

कोई चर्चा नहीं है और मनुस्मृति में वर्णित उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जेरज—इन चार प्रकार की योनियों में से भी भूत किसी में सिद्ध नहीं होता, अतः भूत और उसके आवेश को दूर करना केवल स्वार्थी और छली-कपटी लोगों ने ठगी का बहाना बना रक्खा है, अतः भूत का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और भूत के अस्तित्व का वर्णन करनेवाले पुराण वेद के विरुद्ध हैं।

८. पोपजी—अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ११०, मन्त्र २ में 'ज्योतिष के नव-ग्रहों का फल पुरुष को मिलता है' ऐसा वर्णन है और ग्रहों की शान्ति के साधन बतलाये गये हैं, परन्तु इस मन्त्र के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में ग्रहों के फलों का खण्डन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में न तो ज्योतिष के नवग्रहों की चर्चा है और न ही इनके फल और शान्ति के साधनों का वर्णन है, वरन् इस वेदमन्त्र में मनुष्यों को उपदेश दिया गया है कि वे धर्मात्मा लोगों का अनुकरण करते हुए पुरुषार्थ से सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियम में रहते हुए सब विघ्नों को दूर करके सौ वर्षवाली अवस्था को प्राप्त करें और यजुर्वेद [४०।२] में वर्णन है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और उसे अपने ही कर्मों का फल मिलता है। चूँकि सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि सितारों का हमारे साथ हमारी प्रकृति के अनुसार केवल सर्दी-गर्मी का ही सम्बन्ध है, हमारे कर्मों के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह फलित ज्योतिष ठग लोगों ने जनता को ठगने के लिए ही घड़ रक्खा है, अतः ग्रहों के फलों का खण्डन और कर्मों के फलों का मण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और नवग्रहों के फलों का वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

९. पोपजी—अथर्ववेद [१८.४.४८] में लिखा है कि मरे हुए पुरुष पितरयोनि में प्रकट हों और इन्हीं के लिए श्राद्ध और तर्पण का विधान बतलाया है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में जीते-जागते पितरों का श्राद्ध करना लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में न श्राद्ध शब्द है और न तर्पण और न ही यह वर्णन है कि मृतकों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से मृतक पितरों की तृप्ति होती है, अपितु इस मन्त्र में तो यह वर्णन है कि माता-पिता और आचार्यगण सन्तानों को ऐसी शिक्षा दें जिससे मुर्दा जातियाँ भी जीवित जातियों में गणना करने योग्य बन जाएँ और यजुर्वेद [१९।४६] में आज्ञा है कि जीवित माता-पिता और आचार्य की सेवा करो। चूँकि माता-पिता, बहिन-भाई आदि सम्बन्ध भी शरीरों के साथ होने से जीवितों के साथ ही होते हैं, मरने के पश्चात् जीवों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता और न ही मृतक पितर हमारी सेवा और भोजन आदि को ग्रहण कर सकते हैं, अतः जीवित माता, पिता, आचार्य, साधु, संन्यासी, महात्मा, राजा आदि हमारी रक्षा करनेवाले जीवित पितरों की सेवा का वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से उनकी तृप्ति माननेवाले पुराण वेदों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

१०. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ५, मन्त्र २० में 'पुरुष को अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए' इस विषय का वर्णन है, परन्तु इसके विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी की आज्ञा है कि गर्भवती स्त्री के पति से जवान होने के कारण न रहा जाए अथवा रोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए तो स्त्री किसी दूसरे पुरुष से और पुरुष किसी अन्य की स्त्री के साथ सहवास करके अपनी ऐन्द्रिक इच्छा को पूर्ण कर ले, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—यद्यपि ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ५ में २० मन्त्र ही नहीं हैं, केवल सात ही मन्त्र हैं, पोपजी ने यूँ ही अपने स्वभाव के अनुसार सटल्ला मार दिया, तथापि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियों को वश में रखना वेदों के अनुकूल है। जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकें तो वे नियोग क्या चाहे प्रथम विवाह भी न करें, परन्तु जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकें, अपितु बृहस्पति की भाँति भाई की गर्भवती स्त्री से व्यभिचार करने की मूर्खता के भागी बनें, ब्रह्मा की भाँति पोती का मुँह देखकर ही उसपर अनुरक्त हो जाएँ और अपनी धोती को गन्दा कर डालें, चन्द्रमा की भाँति विवश होकर गुरु की स्त्री को बलात् पकड़कर दुराचार करने पर उतारू हो जाएँ। महादेव, विश्वामित्र, ऋष्यशृङ्ग की भाँति वेश्यागमन करके दिन व्यतीत करें, कृष्ण की भाँति अर्जुन-जैसे कोमल-कोमल लड़कों को स्त्री बनाकर सनातनधर्म कर डालें, किन्दम की भाँति हिरनी आदि पशुओं के साथ मैथुन कर डालें और सूर्य की भाँति स्त्री के नाक-मुख में ही वीर्याधान करने लगें, मोहिनी की भाँति आते-जातों को बलात् चिपटने लगें, शूर्पनखा की भाँति दूसरों को बलात् भोग के लिए विवश करें, संज्ञा की भाँति चाचा से ही लिपटने पर विवश हो जाएँ, इस प्रकार के स्त्री-पुरुषों को व्यभिचार से बचाने के लिए अथर्ववेद काण्ड ९, सूक्त ५, मन्त्र २७-२८ और अथर्ववेद [१८.३.१-३] में पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार नियमपूर्वक नियोग की विधि पूर्ण करके सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी है, जिसकी सविस्तर व्याख्या मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक १२० से १४६ तक में की गयी है, जिसके अनुसार ही वेदव्यासजी ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी से तथा कुन्ती ने धर्म, वायु और इन्द्र से नियोग करके धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर तथा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि को उत्पन्न किया, अतः वेदानुकूल नियोग की आज्ञा देकर सर्वसाधारण को व्यभिचार से बचानेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और उपर्युक्त बृहस्पति आदि के इतिहासों का वर्णन करके जनता को व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

११. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ८३, मन्त्र १ में व्रत-साधन आदि तपस्या करने से ईश्वर और सुख की प्राप्ति बतलायी है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में व्रतों और तप के साधनों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—व्रत और तप किसे कहते हैं—इस बात की व्याख्या भी अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त ५ में विस्तारपूर्वक की गयी है कि ब्रह्मचर्य के व्रत का नाम ही तप है, भूखा मरना, अग्नि में तपना, शरीर को जलाना, पानी में खड़ा होना आदि-आदि तप और व्रत नहीं हैं और न ही इनसे ईश्वर और सुखों की प्राप्ति हो सकती है, प्रत्युत ब्रह्मचर्य के व्रत को धारण करके विद्या का ग्रहण, वेद का स्वाध्याय करना, सदाचारी रहना रूप तो तप है उससे ही ईश्वर और सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए भूखे रहना और अग्नि में तपनेरूप मिथ्या व्रत और तप का खण्डन करके ब्रह्मचर्यव्रत के तप का वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और भूखा रहने को व्रत तथा शरीर को अग्नि में तपाने आदि को व्रत, तप वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१२. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ६, सूक्त ४७, मन्त्र १८ में ईश्वर के दस प्रधान अवतारों का वर्णन है, परन्तु इसके विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर के अवतारों का खण्डन किया है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध है।

तोपजी—इस मन्त्र में दस अवतारों में से एक का भी नाम नहीं है, अपितु इस मन्त्र में तो जीवात्मा का वर्णन है कि जीवात्मा अनेक जन्म-जन्मान्तरों को धारण करके दस इन्द्रियों को और सैकड़ों प्रकार के शरीरों को धारण करके प्रकृति के साथ अनेक रूपों को

प्राप्त होता है और यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र ८ में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ईश्वर शरीररहित तथा नस-नाड़ियों के बन्धन से मुक्त है। परमात्मा अवतार धारण नहीं करता, अतः अवतारों का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल और परमात्मा के अवतारों का वर्णन करनेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१३. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल १० के यम-यमी सूक्त से वेदों में इतिहास का होना सिद्ध होता है, परन्तु स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में 'वेदों में इतिहास नहीं है' ऐसा माना है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के विरुद्ध हैं।

तोपजी—यम-यमी गौणिक नाम हैं, ऐतिहासिक नाम नहीं हैं। जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि यमों को धारण करे उसका नाम यम और जो स्त्री धारण करे उसका नाम यमी है। वेद सृष्टि के आदि में प्रकट हुए, इसलिए उनमें किसी का भी इतिहास होना असम्भव है, क्योंकि किसी का इतिहास उसके जन्म के पश्चात् लिखा जा सकता है, अतः वेदों में इतिहास का खण्डन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और वेदों में इतिहास बतानेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१४. पोपजी—ऋग्वेद मण्डल ५[1], सूक्त २, मन्त्र ८ में लिखा है कि दूसरे की सन्तान को मन से भी अपनी सन्तान नहीं मानना चाहिए। वह अपनी कभी नहीं होती, परन्तु वेदों की इस आज्ञा के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि वर्ण के परिवर्तन होने पर परस्पर पुत्र और पुत्रियों का परिवर्तन किया जाए। स्वामीजी का यह मनमाना परिवर्तन वेद के विरुद्ध होने से सत्यार्थप्रकाश वेद-विरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न संख्या १ में विस्तार के साथ सिद्ध कर आये हैं कि इस मन्त्र में यह लिखा है कि जो लड़का हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हो और हमें प्रसन्न न कर सके वह दूसरे का लड़का हमारा पुत्र नहीं बन सकता, परन्तु जो अच्छे स्वभाववाला नवयुवक हो वह हमारा पुत्र बन सकता है। यह मन्त्र तो स्वामीजी के लेख का समर्थन करता है, खण्डन नहीं, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और जन्म से वर्णव्यवस्था माननेवाले पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१५. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ५१ के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है कि बालक अपनी माता का ही दूध पीये और संस्कार-विधि के जातकर्म-संस्कार में स्वामीजी ने यजुर्वेद [१७।८७] में बालक को अपनी माता का दायें स्तन का दूध पिलाना लिखा है और ऋग्वेद सूक्त १६४ मन्त्र ४९ से बायें स्तन का दूध बालक को पिलाना लिखा है, परन्तु इन वेदमन्त्रों के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि माता बालक के उत्पन्न होने पर केवल छह दिन ही दूध पिलाए और बाद में माता के स्तनों पर दवाई लगाई जाए, जिससे दूध निकलना बन्द हो जाए, फिर बकरी, गौ, दाई आदि का दूध पिलाया जाए, इसलिए भी सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है।

तोपजी—हम इस बात का प्रश्न-संख्या १२ के उत्तर में विस्तार के साथ वर्णन कर चुके हैं कि स्वामीजी ने दाई, बकरी अथवा गाय का दूध पिलाने को अनिवार्य नहीं ठहराया, अपितु अस्थायीरूप में लिखा है और यह यजुर्वेद [१२।२] के सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि वहाँ दाई का दूध पिलाना बतलाया है तथा स्वामीजी की व्याख्या सुश्रुत-संहिता शारीरिक स्थान अध्याय १० के अनुसार है। यजुर्वेद अध्याय ८, मन्त्र ५१ में 'ही' शब्द पोपजी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है, अन्यथा यजुर्वेद के दोनों मन्त्र साधारणरूप से माता का दूध

---

१. पोपजी ने पता ग़लत दिया है। इस मन्त्र का ठीक पता है—ऋग्वेद ७।४।८

पिलाने का वर्णन करते हैं, विशेषरूप से दाई रखने का खण्डन नहीं करते। ऋग्वेद में १० मण्डल हैं। कौन-से मण्डल के १६४ सूक्त का ४९वाँ मन्त्र है, यह पोपजी ने नहीं लिखा। प्रतीत होता है कि पौराणिक गपोड़ा ही है। यदि ठीक हो तो भी विशेष अवस्था में दाई का खण्डन नहीं करता, अतः अपर्युक्त मन्त्र दाई का खण्डन नहीं करते और यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र २ दाई की आज्ञा देता है। इस कारण सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और दाई के विरुद्ध पौराणिक पोपमण्डल का रोना-चिल्लाना सर्वथा वेदों के विरुद्ध है। चूँकि गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय १७२, श्लोक १३ से १५ में भी बच्चे के लिए दाई निश्चित करने और गाय-बकरी का दूध पिलाने का वर्णन विद्यमान है।

१६. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय २९, मन्त्र ३० में स्वामीजी लिखते हैं कि पुरुष विहाहिता स्त्री से ही सन्तान उत्पन्न करे, परन्तु इस वेदमन्त्र के विरुद्ध स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि विधवा स्त्री पाँच पुरुषों से नियोग करके दस सन्तान उत्पन्न करे अर्थात् दो अपने लिए और दो-दो अन्य चार पुरुषों के लिए। यह वेदविरुद्ध व्यभिचार नहीं तो क्या है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ३ के उत्तर में इस विषय पर पर्याप्त लिख चुके हैं। यजुर्वेद अध्याय २९, मन्त्र ३० के भाष्य में **'ही'** शब्द पोपजी ने अपनी ओर से बढ़ा लिया है, अन्यथा इस मन्त्र में सामान्य बात का वर्णन किया गया है कि स्त्रियाँ अपने पतियों से सन्तान उत्पन्न करें। यह मन्त्र व्यभिचार का खण्डन करता है, नियोग के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि नियोग विधि-विधान-अनुसार, वेदानुकूल पञ्चायती रीति-रिवाज से आचरण में आता है और नियोग से प्राप्त हुआ व्यक्ति भी पति ही कहाता है। अर्थवेद काण्ड ५, सूक्त १६ तथा १७ में स्त्री को दस पति तक और पुरुष को दस स्त्रियों तक नियोग की आज्ञा है और प्रत्येक स्त्री-पुरुष को दस तक सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार है, इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियोग की रस्म (प्रथा) विधि-विधानपूर्वक पूर्ण की जाती है। हाँ, द्रौपदी का एक ही समय में पाँच पति, जटला का एक ही समय में सात पति और वार्क्षी का एक ही समय में दस पति करना वस्तुतः व्यभिचार है, क्योंकि यह वेद के विरुद्ध है, अतः व्यभिचार को रोकने के लिए नियोग की आज्ञा देनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदों के अनुकूल और व्यभिचार की शिक्षा देनेवाले भागवत आदि अट्ठारह पुराण वेदों के विरुद्ध हैं।

१७. पोपजी—स्वामीजी ने लिखा है कि जब किसी स्त्री का पति मर जाए तो उसका दाहकर्म करने से पूर्व लोग एकत्र होकर कहें कि—हे स्त्रि! तू इस पति की आशा छोड़कर जीते हुए हममें से किसी को पति चुन ले। यह वेदोक्त पतिव्रतधर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ४ के उत्तर में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि स्वामीजी के लेख में 'दाहकर्म करने से पूर्व' ये शब्द नहीं है, अपितु ये शब्द पोपजी ने अपनी ओर से मिलाकर आक्षेप किया है। आर्यसमाज तो यह मानता है कि पति की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् जब पञ्चायत उचित समझे तब किसी उपाय से उससे पूछे। हाँ, सनातनधर्म के टीकाकार सायणाचार्य ने इस मन्त्र के अर्थ इसी प्रकार किये हैं, अतः यह आक्षेप सनातनधर्म पर ही हो सकता है, आर्यसमाज पर नहीं। इस कारण सत्यार्थप्रकाश का लेख वेदोक्त पतिव्रतधर्म के अनुसार और सायणाचार्य का लेख वेदोक्त पतिव्रतधर्म के विरुद्ध है तथा महीधर के यजुर्वेदभाष्य अध्याय २३, मन्त्र २० में जो लिखा है कि यजमान की स्त्री स्वयं घोड़े के लिङ्ग को खेंचकर अपनी योनि में डाल ले, यह वस्तुतः पतिव्रतधर्म के विरुद्ध है।

१८. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि—गर्मदेश में चोटी के साथ ही सब बाल कटवा देने चाहिएँ, यह किस वेद की आज्ञा है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ७ के उत्तर में सिद्ध कर आये हैं कि स्वामीजी ने चोटी कटाना अनिवार्य नहीं बताया, अपितु आवश्यकता के अनुसार बताया है, जिसकी आज्ञा यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ४८ में विद्यमान है, जिसकी व्याख्या मनुस्मृति [२।२१९] में की गयी है। आप वेद से बतलाएँ कि चोटी कितनी बड़ी, कहाँ रखनी चाहिए और चोटी नहीं कटानी चाहिए, यह कौन-से वेद की आज्ञा है?

१९. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने लिखा है कि आदिसृष्टि में जवान-जवान जोड़े उत्पन्न हुए—इसका वर्णन किस वेद में है?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ५ के उत्तर में लिख चुके हैं कि सामवेद पूर्वार्चिक प्रपाठक १, द्वितीयोऽर्ध, दशती २, मन्त्र २ [क्रमिक मन्त्र ६४] में, यजुर्वेद [३१।९] में और ऋग्वेद [५।३०।५] में स्पष्टरूप से वर्णन किया है कि सर्ग-आरम्भ में यौवन-अवस्था में मनुष्य उत्पन्न हुए, वृद्ध या शैशव-अवस्था में नहीं। आप कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जिसमें लिखा हो कि सर्गारम्भ में मनुष्य बालक या वृद्ध उत्पन्न हुए, जवान नहीं।

२०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि आदिसृष्टि तिब्बत में हुई, परन्तु इसके विरुद्ध शतपथ आदि में आर्यावर्त्त देश के ब्रह्मावर्त्त में ही प्रजापति द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने का वर्णन है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदविरुद्ध है।

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ६ के उत्तर में लिख चुके हैं कि प्रथम तो शतपथ वेद नहीं है। दूसरे, इसका अवतरण अथवा उसका पता पोपजी ने कुछ नहीं दिया, जिसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वैसे ही गप्प मार दी है। अथर्ववेद [११।१।७] में लिखा है कि जो भूमि सबसे पूर्व जलों से बाहर निकले, जिसमें मनुष्य निवास कर सकें और सबसे ऊँची हो—वहाँ ही सबसे पूर्व सृष्टि उत्पन्न होती है। इस वेदमन्त्र के अनुसार तिब्बत में सृष्टि का उत्पन्न होना ठीक और ब्रह्मावर्त्त में सृष्टि-उत्पन्न होना सर्वथा ग़लत है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल और पौराणिक पोपमण्डल का प्रलाप वेद के विरुद्ध है। आप किसी वेदमन्त्र से सृष्टि का किसी अन्य स्थान पर उत्पन्न होना सिद्ध करें। यह किस वेद में लिखा है कि आदिसृष्टि तिब्बत में नहीं हुई?

२१. पोपजी—संस्कार-विधि के गृहस्थप्रकरण में लिखा है कि जब आर्यवधू विवाहित होकर सर्वप्रथम घर आये तो नगर की सब जवान और बूढ़ी दुराचारिणी स्त्रियाँ इसके पास आकर और इसे अपना तेज देकर घरों को चली जाएँ, फिर कभी न आएँ, जबकि वेदों में पतिव्रता स्त्रियों का सङ्ग करना लिखा है, फिर ऐसी वेदविरुद्ध आज्ञा क्यों दी गयी?

तोपजी—हम प्रश्न-संख्या ९ के उत्तर में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि पोपजी ने संस्कार-विधि का पाठ ठीकरूप में नहीं दिया। संस्कार-विधि का पाठ इस प्रकार—"जो दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुरात्मा जवान स्त्रियाँ और जो इस स्थान में वृद्ध दुष्ट स्त्रियाँ हों—वे भी इस वधू को शीघ्र तेज देवें, इसके पश्चात् अपने-अपने घरों को चली जाएँ और फिर इसके पास कभी न आएँ।"

तनिक ध्यानपूर्वक देखें, पोपजी ने संस्कार-विधि के पाठ को कितना परिवर्तित करके अपने प्रयोजन का बनाकर अङ्कित किया है, अन्यथा संस्कार-विधि का स्पष्ट आशय यह है कि जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियाँ वहाँ उपस्थित हों वे अपनी प्रतिष्ठा देकर चली जाएँ और फिर कभी उसके पास न आएँ, अर्थात् नववधू को आज्ञा है कि दुष्ट हृदयवाली स्त्रियों को अपमानित करके घर से निकाल दे जिससे वे फिर कभी इसके पास न आएँ और श्रेष्ठ, धर्मात्मा नारियों का सङ्ग करे। यह वेदमन्त्र का अर्थ है। इस मन्त्र का अन्य अर्थ हो भी नहीं सकता। वेदविरुद्ध दुराचार की शिक्षा पुराणों में ही मिलनी सम्भव है, संस्कारविधि में

नहीं। दुराचार की शिक्षा देखनी हो तो महधीर के यजुर्वेदभाष्य अध्याय २३, मन्त्र २३ से २६ तक देखें जहाँ स्त्रियाँ और पुरोहित लिङ्ग और भग की ओर संकेत करके उपहास करते हैं।

२२. पोपजी—निम्नाङ्कित मन्त्र किसी वेद में नहीं है, फिर इन्हें स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश आदि में मन्त्र बताकर जनता को धोखा क्यों दिया? आर्यसमाजी मित्र बताएँ कि ये झूठे मन्त्र किस वेद के हैं? यहाँ आधार की ओट लेने की आवश्यकता नहीं, केवल वेद का नाम और मन्त्र की संख्या ही सत्यता समझी जाएगी। **'ओं वाक् वाक्'** समाजी वैदिक सन्ध्या में। **२३. 'ओं भूः पुनातु शिरसि'**, समाजी वैदिक संन्ध्या में। **२४. 'ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थप्रकाश में ये देवतर्पण के चार मन्त्र। **२५. 'ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थप्रकाश में ये ऋषितर्पण के चार मन्त्र। **२६. 'ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्'**, सत्यार्थ प्रकाश में यह जीवित पितरों का मन्त्र। **२७. 'ओम् अग्नये स्वाहा'**, सत्यार्थप्रकाश में ये सब अग्निहोत्र के मन्त्र। **२८. 'ओं सानुगायेन्द्राय नमः'**, सत्यार्थप्रकाश में ये सभी बलिवैश्वदेव के मन्त्र।

तोपजी—हम पोपजी से पूछना चाहते हैं कि क्या इन मन्त्रों के नीचे स्वामीजी ने किसी वेद का प्रमाण मण्डल, अध्याय, सूक्त, मन्त्रों की संख्या लिखी है? यदि नहीं लिखी तो इनके सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि इन मन्त्रों को वेदों में दिखाओ—महा पाजीपन है। धोखा तो इसे तब कहा जा सकता यदि इनके नीचे किसी वेद का पता होता और वे वेद में न निकलते। जब स्वामीजी ने इन्हें वेदमन्त्र बताया ही नहीं तो फिर इसको धोखा कहना जनता को धोखा देना है। मन्त्र एक प्रकार की काव्यमयी शैली का नाम है, जिसकी रचना का अधिकार प्रत्येक ऋषि को प्राप्त है। ऋषि दयानन्दजी ने इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए कर्मकाण्ड की आवश्यकता के लिए इन मन्त्रों का निर्माण किया है। हाँ, यदि ये मन्त्र वेद के विरुद्ध हों तो कोई मन्त्र देकर उसके साथ इनका विरोध दिखलाओ, अन्यथा इन मन्त्रों को ग़लत और झूठा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के मन्त्र ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों, सुश्रुत और पुराणों में भी विद्यमान हैं, जो वेद में विद्यमान नहीं हैं, अपितु इन ग्रन्थों को लिखनेवाले ऋषियों ने ही कर्मकाण्ड के लिए निर्माण किये हैं, जैसाकि हमने प्रश्न-संख्या दो के उत्तर में गरुडपुराण आदि से बीसियों मन्त्र प्रस्तुत किये हैं। इनका नाम मन्त्र होने से ही इन्हें वेदों में से दिखाने का आग्रह करना केवल मूर्खता है। यदि प्रत्येक मन्त्र का वेदों में होना आवश्यक है तो गरुडपुराण आचारकाण्ड अध्याय ३१ में दिये गये—**'ओं ह्रां हृदयाय नमः। ओं ह्रीं शिरसे नमः'** आदि ९ मन्त्र और अध्याय ३२ में **'ओं अं वासुदेवाय नमः'** आदि पाँच मन्त्र तथा अध्याय ३९ में **'ओम् उच्चैश्रवसे नमः'** आदि पन्द्रह मन्त्र। कृपया यह बतलाएँ कि ये सब मन्त्र किस वेद के हैं?

२९. पोपजी—**'यमेन वायुना सत्यराजन्'** सत्यार्थप्रकाश में यजुर्वेद के नाम से झूठा लिखा गया है। यह किस वेद में है?

तोपजी—चूँकि इस पाठ के नीचे लिखा हुआ है 'इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि 'यम' नाम वायु का है।' इस लेख से सिद्ध होता है कि यह एक वेदमन्त्र नहीं है, अपितु कई वेदमन्त्रों की ओर संकेत है। इसलिए **'यमेन'** से ऋग्वेद [१०।१४।८] की ओर, **'वायुना'** से ऋग्वेद [५।१९।५] की ओर, **'सत्यराजन्'** से यजुर्वेद [२०।४] की ओर संकेत है। इन मन्त्रों को देने से स्वामीजी का अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों से सिद्ध है कि 'यम' नाम वायु का है, अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह वेद में विद्यमान है। हाँ, ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय २७, श्लोक ८, में सामवेद के नाम से यह मन्त्र लिखा

है—'**ओं श्रीदुर्गायै सर्वविघ्नविनाशिन्यै नमः**'—इस मन्त्र को सामवेद में दिखाओ।

३०. पोपजी—आर्यसमाजी कहते हैं कि हम मूर्त्तिपूजक नहीं, परन्तु समाज की पुस्तकों में ऐसा पाया जाता है [कि ये भी मूर्त्तिपूजक हैं], अन्यथा इसका अभिप्राय स्पष्ट करें—स्वामी दयानन्दजी ने अपने यजुर्वेदभाष्य अध्याय ३ मन्त्र ६२ में नाई के उस्तरे की पूजा लिखी है और यजुर्वेद अध्याय ४, मन्त्र १ में लिखा है कि 'हे उस्तरे! तू विष्णु की दाढ़ है। क्या उस्तरा और विष्णु की दाढ़ और दाढ़वाला शरीरधारी नहीं?' **३१.** यजुर्वेद अध्याय १२ मन्त्र ७० में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि 'हे आर्य लोगो! घी, दूध, शहद, शक्कर और फूल से खेत के ढेले तोड़नेवाले हल की पूजा करो।'

तोपजी—स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य हमारे समक्ष रक्खा हुआ है। इन तीनों मन्त्रों में न तो पूजा शब्द विद्यमान है और न ही उस्तरे और विष्णु की दाढ़ का नाम और चिह्न है और 'फूल' तथा 'पूजा' शब्द भी पोपजी की ही कल्पना है। प्रथम और दूसरे मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना है और तीसरे मन्त्र में घी, दूध, शहद, शक्कर की खाद डालकर भूमि को किसी विशेष पौधे के लिए तैयार करने का वर्णन है। इसका उत्तर हम विस्तार के साथ मूर्त्तिपूजा विषय में दे आये हैं।

३२. पोपजी—लकड़ी के बने हुए ऊखल-मूसल को कहना कि—'हे वनस्पति की लकड़ी के बने हुए ऊखल-मूसल! तुम्हें नमस्कार है' यह किस निराकार की पूजा है?

तोपजी—आपने पता नहीं लिखा कि यह लेख कहाँ का है—'ऊखल-मूसल तुमको नमस्कार है।' हम पोपजी को चैलैञ्ज करते हैं कि वह उपर्युक्त लेख स्वामीजी के किसी ग्रन्थ में से निकालकर दिखाएँ, अन्यथा झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त करें। यदि आपको अभी तक यह भ्रम है कि आर्यसमाज उस्तरा, कुशा, हल, मूसल, दण्डे की पूजा करता है तो परीक्षा कर लें। हम उपर्युक्त वस्तुओं को मैदान में रख देते हैं और आप शालिग्राम, शिवलिङ्ग आदि मूर्त्तियों को मैदान में रक्खें। हम मूसल आदि को जूते मारते हैं और आप शालिग्राम आदि को जूते मारें, स्वयमेव पता लग जाएगा कि मूर्त्तिपूजक कौन है? आप हैं या हम।

३३. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३५३ पर मुसलमानों के उत्तर में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि हिन्दू लोग मूर्त्तिपूजक नहीं, अपितु मूर्त्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं, परन्तु शेष सत्यार्थप्रकाश में मूर्त्तिपूजा द्वारा ईश्वर की पूजा का खण्डन करते हैं—ये दो विरोधी बातें क्यों?

तोपजी—न तो सत्यार्थप्रकाश में विरोधी बातें हैं और न ही मूर्त्ति द्वारा ईश्वर की पूजा का वर्णन है, अपितु सत्यार्थप्रकाश में तो सर्वत्र मूर्त्ति द्वारा ईश्वर की पूजा का खण्डन ही किया है, परन्तु आप झूठ, छल-कपट से जनता को धोखा दे रहे हैं। सत्यार्थप्रकाश का मूल पाठ इस प्रकार है। स्वामीजी मुसलमानों को कहते हैं कि—

''जिनको तुम बुत्परस्त समझते हो वे भी उन मूर्तों को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु उनके सामने ईश्वर की भक्ति करते हैं......जैसे तुम्हारे लिए कुरआन में हुक्म है, वैसे उनके लिए पुराण में आज्ञा है। जैसे तुम कुरआन को खुदा का कलाम समझते हो, वैसे पुराणी पुराणों को खुदा के अवतार व्यासजी का वचन समझते हैं। तुममें और इनमें बुत्परस्ती का कुछ भिन्नभाव नहीं है, प्रत्युत तुम बड़े बुत्परस्त और वे छोटे हैं......हाँ, जो हम लोग वैदिक हैं वैसे ही तुम लोग भी वैदिक हो जाओ तो बुत्परस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं।''

इस पूरे लेख को पढ़कर बताएँ कि सत्यार्थप्रकाश में कौन-सी विरोधी बातें हैं? हाँ, पुराणों में मूर्त्तिपूजा का खण्डन अवश्य है। भागवत [१०।८४।१३] में लिखा है कि मूर्त्तिपूजा करनेवाले बैल और गधे के समान हैं। आर्यसमाज 'पूजा' शब्द का अर्थ किसी वस्तु का उचित प्रयोग, किसी वस्तु की उचित रक्षा और किसी व्यक्ति का उचित आदर-सम्मान मानता है; घण्टा, घड़ियाल, शंख बजाने, आरती उतारने और भोग लगाने को पूजा नहीं मानता।

३४. पोपजी—आर्यसमाज ईश्वर को केवल निराकार ही मानता है, साकार नहीं, परन्तु आर्यसमाज की प्रामाणिक पुस्तकों में साकार का वर्णन मिलता है, ऐसा क्यों?

तोपजी—आर्यसमाज के प्रामाणिक ग्रन्थों में ईश्वर को साकार बतलानेवाला एक भी वर्णन नहीं है।

३५. पोपजी—यजुर्वेद [२६।२] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि "जिस प्रकार मैं (ईश्वर) अपने स्त्री-पुत्रों को पढ़ाता हूँ, इसी प्रकार हे लोगो! तुम भी पढ़ाओ।" इससे ईश्वर बाल-बच्चेदार होने और पढ़ाने से साकार प्रतीत होता है।

तोपजी—यह 'पुत्रों' शब्द कहाँ से घुसा लिया? आप लोग छल-कपट के बिना सचाई से कोई काम कभी करते ही नहीं हैं। आप लोगों का अब झूठ पर ही आश्रय है, परन्तु यह कब तक चलेगा? देखिए यजुर्वेदभाष्य का पाठ यह है—

"हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री-सेवक आदि और उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यज के लिए भी—इन उक्त सब मनुष्यों के लिए इस संसार में इस प्रकट की हुई, सुख देनेवाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।"

इसमें स्त्री का वर्णन है, बीवी (पत्नी) का नहीं और सेवक अर्थात् भक्त की चर्चा है, पुत्रों की नहीं और सब पुरुष-स्त्रियाँ, सेवक आदि ईश्वर की 'स्व' हैं और ईश्वर सबका स्वामी है। वह मनुष्य की भाँति पढ़ाता नहीं, अपितु सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदयों में प्रकट कर देता है। भला! इस लेख से ईश्वर बाल-बच्चेदार और पढ़ानेवाला साकार कैसे सिद्ध हो सकता है?

३६. पोपजी—बृहदारण्यक उपनिषद् में आर्यसमाज के विद्वान् पं० राजारामजी, प्रोफेसर डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर लिखते हैं कि "ईश्वर के दोनों रूप मूर्त और अमूर्त्त अर्थात शरीरसहित और शरीररहित हैं"—इससे भी ईश्वर शरीरी प्रतीत होता है।

तोपजी—हम 'पुराणों में मूर्त्तिपूजा' विषय में युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर आये हैं कि वहाँ ईश्वर का वर्णन नहीं, अपितु ईश्वर के द्वारा निर्मित जगत् की चर्चा है। यह बात आगे लिखी व्याख्या से पता लगती है। वहाँ लिखा है कि "ईश्वर का बनाया हुआ जगत दो रूपोंवाला है शरीरी और अशरीरी। शरीरी जो आकाश और वायु से भिन्न अर्थात् अग्नि, जल तथा पृथिवी और अशरीरी आकाश और वायु। इस विवरण से स्पष्ट सिद्ध है कि यहाँ ईश्वर को नहीं अपितु ईश्वर द्वारा रचित जगत् को शरीरी और अशरीरी कहा गया है।"

३७. पोपजी—शुक्ल यजुर्वेद अध्याय ५, मन्त्र १९ में '**उभा हि हस्ता**' का अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द ने दो हाथोंवाला ईश्वर स्वीकार किया है, तो फिर आपका ईश्वर अशरीरी कैसे रहा?

तोपजी—आप बिल्कुल झूठ और ग़लत लिख रहे हैं। यहाँ ईश्वर के हाथों की चर्चा तक भी नहीं, प्रत्युत यहाँ तो ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि तू मेरे दोनों हाथों को ऐश्वर्य

से पूर्ण कर दे। इसलिए आपके ईश्वर को शरीरी सिद्ध करनेवाले सब प्रमाण ग़लत हैं। ईश्वर निश्चितरूप से अशरीरी है। पुराण भी ईश्वर को शरीररहित ही बताते हैं। शिवपुराण वायुसंहिता खण्ड २, अध्याय ६ में लिखा है कि ईश्वर शरीररहित है, उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती, वह जन्म नहीं लेता और न दु:खों में फँसता है।

३८. **पोपजी**—सन् १८८४ के मुद्रित सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ८३ पर दयानन्दजी का लेख है कि वेदों के प्रमाण से सब काम करो। आर्यसमाजी भी कहा करते हैं कि हमारे यहाँ सब संस्कार आदि वैदिक होते हैं, क्योंकि हमारा मत वेद है, परन्तु यह कथनमात्र है, क्योंकि अभी तक तो आर्यसमाज को वेद का ही पता नहीं चला। इसका कारण यह है कि संवत् १९६९ में मुद्रित सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २९५ पर लिखा है कि आश्वलायन आदि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं, अर्थात् जो शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं वे वेद नहीं हैं, परन्तु हम देखते हैं कि जिन चार पुस्तकों को आर्यसमाज वेद मानता है वे भी शाकल आदि शाखाएँ ही हैं। ऐसा केवल हम ही नहीं कहते किन्तु आर्यसमाज के मान्य काव्यतीर्थ पं० शिवशङ्कर शर्मा, वेदाध्यापक गुरुकुल काङ्गड़ी ने भी अपने 'वेदतत्त्वप्रकाश' पुस्तक के पृष्ठ ६४ पर इन्हें शाकल आदि शाखाएँ ही लिखा है। बस, जब तक आर्यसमाज के मत में शाखा वेद नहीं हैं और जिन्हें वेद कहा जाता है, वे भी शाखा ही हैं, तब तो दयानन्द के मत में वेद का सर्वथा अभाव है। इस अवस्था में आर्यसमाजी बताएँ कि वे कौन-से वेद के अनुसार चलते हैं और अपने को वैदिक कहने का इन्हें क्या अधिकार है?

तोपजी—'वेदों के प्रमाण से कार्य करो'—स्वामीजी के इस लेख का यही तात्पर्य है कि 'वेदों के अनुकूल कार्य करो' और आर्यसमाजी जो कहते हैं कि "हमारे यहाँ संस्कार आदि वैदिक होते हैं, उनका भी यही तात्पर्य है कि "हमारे यहाँ संस्कार वेदानुकूल होते हैं।" आर्यसमाज का मत वेद है, यह सोलह आने सत्य है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चार मूल मन्त्रसंहिताओं का नाम ही वेद है। ये चारों शाखा नहीं हैं, अपितु ये चारों मूल हैं, अर्थात् मूल वृक्ष हैं। यदि मूल वृक्ष ही न हो तो फिर शाखा किसकी होगी। शाखा वे ग्रन्थ हैं जिनमें ऋषि-मुनियों ने वेदमन्त्रों की प्रतीकें रखकर उनकी व्याख्या की है। शाखा, क्योंकि मनुष्यों द्वारा रचित होती हैं, इसलिए वे जहाँ तक मूलग्रन्थ के अनुकूल हों वहीं तक प्रामाणिक मानी जाती हैं।

चारों वेद किसी ऋषि-मुनि द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु ईश्वरकृत हैं। इन चारों में मन्त्रों की प्रतीकें रखकर उनकी व्याख्या नहीं है और ये चारों वेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं, शेष शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चारों को भी शाखा मानने, कहने या लिखनेवाले बिल्कुल ग़लत, युक्ति और तर्क से शून्य हैं, चाहे वे आप हों और चाहे कोई काव्यतीर्थ हों, क्योंकि इनको भी शाखा मानने से मूल कोई रहता ही नहीं और जब मूल ही नहीं तो शाखा किसकी? इसलिए आर्यसमाज का यह पक्ष बड़ा प्रबल है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों मूल मन्त्रसंहिता वेद हैं और शेष सब इनकी शाखाएँ हैं, अत: आर्यसमाज इन चारों के अनुसार चलता है और इसे अपने-आपको वैदिक कहने का अधिकार है, परन्तु सनातनधर्म को अभी तक वेदों का पता ही नहीं, क्योंकि वह सबको ही शाखा मानता है और मूल के बिना शाखा किसकी? चूँकि सनातनधर्म के अनुसार मूल ग्रन्थ कोई है ही नहीं, इसलिए ये शाखाएँ भी रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य हो जाती हैं। इस अवस्था में आर्यसमाज के मुक़ाबले में सनातनधर्म बताये कि उसकी क्या स्थिति है। क्या वेद संसार में हैं या नहीं? यदि हैं तो वह कौन-से हैं और यदि नहीं तो सनातनधर्म की तो समाप्ति ही है।

३९. पोपजी—पहले तो आर्यसमाज को वेद का ही पता नहीं। दूसरे, जिन चार शाखाओं को वेद के नाम से मानते हैं, उनमें सोलह संस्कारों और पञ्चमहायज्ञों की आज्ञा देनेवाला एक भी विधिवाक्य नहीं है। जिस आर्यसमाजी में वैदिक बनने का साहस हो वे मीमांसादर्शन के नियम के अनुकूल कोई वेद का विधिवाक्य दिखाएँ कि जिसमें स्पष्ट लिखा हो कि अमुक रीति से विवाह आदि करो अथवा प्रतिदिन सन्ध्या आदि किया करो। इन सब प्रमाणों के वेदवाक्य छापकर सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करना आर्यसमाजीमात्र का कर्त्तव्य है, अन्यथा वह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाएगी कि आर्यसमाज वैदिक नहीं है, किन्तु वेद के नाम की आड़ में लोगों को धर्ममार्ग से गिरा रहा है।

तोपजी—आर्यसमाज को वेद का पूरा ज्ञान है। चारों मन्त्रसंहिता ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मूल वेद हैं। वे शाखा नहीं हैं, अपितु मूलवृक्ष हैं। इनमें सोलह संस्कारों और पञ्चमहायज्ञ करने की आज्ञा देनेवाले विधिवाक्य विद्यमान हैं। वेदों में किसी भी सिद्धान्त का बीज होता है, विस्तार अथवा व्याख्या स्मृतिग्रन्थों में होती है। आर्यसमाज ने मीमांसादर्शन के अनुसार विधिवाक्य निकालकर सर्वसाधारण के लिए **'वेदामृत'** पुस्तक में छपवा दिये हैं, जोकि आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब से प्रकाशित हुआ है, जिसे आवश्यकता हो वहाँ से मँगवाकर पढ़ सकता है। इसमें सोलह संस्कारों, पञ्चमहायज्ञों और अन्य सब सिद्धान्तों से सम्बन्धित मन्त्र संग्रहीत कर दिये गये हैं। आर्यसमाज वैदिक है और जनता में वेद का ही उपदेश करता है और जनता को पौराणिक गढ़े से निकालकर सन्मार्ग पर ले-जाता है, परन्तु आपकी स्थिति क्या है? प्रथम तो आपके मतानुसार वेद संसार में हैं ही नहीं, सब शाखाएँ ही हैं, मूलवृक्ष कोई है ही नहीं और फिर इन शाखाओं में भी मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, जलस्थलवाले तीर्थ, भूखा मरनारूप व्रत, पिण्डदान, लिङ्गपूजा आदि-आदि पोपलीलाएँ नहीं हैं। आपकी तो वही स्थिति हुई 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का।'

४०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के चौथे भाग में वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव—इन तीन पर मानी हुई है। ग्यारहवें भाग में ब्राह्मण आदि जातिभेद ईश्वरकृत माना है। अन्तभाग में गुण-कर्मों की योग्यता से वर्ण माना है—इन परस्पर-विरुद्ध तीन लेखों में से सत्य कौन-सा है?

तोपजी—वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव पर निर्भर है, जन्म पर नहीं। यह आर्यसमाज का वेदानुकूल सिद्धान्त है और सत्यार्थप्रकाश में तीनों स्थानों पर इसी का वर्णन किया गया है, परन्तु आपने अपने छल-कपटवाले स्वभाव के अनुसार मिथ्याभाषण से काम लिया है। हम आपको तीनों पाठों की संगति लगाकर बतलाते हैं।

१. जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

—सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

इस पाठ में गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार वर्ण माना है तथा गुण और स्वभाव की कर्म में ही गणना करके केवल कर्म से भी वर्ण-व्यवस्था का वर्णन किया है, क्योंकि उत्तम वर्णवाले को केवल कर्म से ही नीच होना माना है।

२. ''मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं, **परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मण आदि को सामान्य जाति में नहीं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रम-व्यवस्था में लिख आये वैसे ही गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था माननी अवश्य है।''** —सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

पोपजी ने इस पाठ को छोड़ दिया है जो हमने मोटे अक्षरों में दिया है। इस लेख का

तात्पर्य यह है कि जीव को उसके कर्म के अनुसार नीच या उच्च वर्ण में परमेश्वर की ओर से जन्म अर्थात् जाति-जन्म मिलता है, परन्तु इसके पश्चात् वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। जैसे उन्नत या अवनत होने के कर्म करेगा उनके अनुसार ही उत्तम या नीच वर्ण को प्राप्त करेगा। यहाँ भी गुण-कर्म-स्वभाव से ही वर्ण-व्यवस्था स्पष्ट सिद्ध है।

३. '**वर्णाश्रम**' गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

—सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

इसमें स्वभाव को गुण में समाविष्ट करके केवल गुण-कर्म ही लिख दिया है। निष्कर्ष यह कि गुण-कर्म-स्वभाव से और स्वभाव की गुणों में गणना करके गुण-कर्म से तथा गुण और स्वभाव दोनों को कर्म में गिनकर केवल कर्म के अनुसार भी वर्ण-व्यवस्था को कहा जा सकता है, इसलिए स्वामीजी के तीनों लेखों का तात्पर्य एक ही है, इनमें तनिक-सा भी विरोध नहीं है।

हाँ, आपके पुराणों में व्यासजी की उत्पत्ति में बीज को प्रधान माना है और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु की उत्पत्ति में क्षेत्र को प्रधान माना है और विश्वामित्र की उत्पत्ति में कर्मों को प्रधान माना गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपके पुराणों में कहीं जन्म से और कहीं कर्म से भी वर्ण-व्यवस्था मानी है। इस विरोध का आप क्या समाधान करते हैं? [विस्तार के लिए द्रष्टव्य प्रश्न-संख्या १ का उत्तर]।

४१. पोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जाति को ईश्वरकृत माना है और सत्यार्थप्रकाश में जातिभेद को ईश्वरकृत माना है। जब दोनों ईश्वरकृत हैं, तब वर्ण-परिवर्तन कैसे होगा?

तोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जाति का यह लक्षण किया है—''जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो ईश्वरकृत हो अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि'' और मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातिभेद को सत्यार्थप्रकाश में सामान्य जाति नहीं माना अपितु सामान्यविशेषजाति माना है, जिसके सम्बन्ध में स्पष्टरूप से वहीं लिखा हुआ है कि—''इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण-कर्म-स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करना राजा और विद्वानों का काम है।''

इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जो मनुष्यपन है, वह ईश्वरकृत है, क्योंकि वे जन्म से मरण तक मनुष्य ही रहेंगे, परन्तु उनका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के घर में जन्म लेना तो पिछले कर्मों के फल के अनुसार ईश्वरकृत है और जन्म लेने के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने और वयस्क [युवा] होने के पश्चात् परीक्षा लेकर इस बात का निर्णय करना कि कौन-कौन किस वर्ण के योग्य हैं और उनको उस-उस वर्ण में रखना यह मनुष्यकृत है, अर्थात् विद्वानों और राजा के हाथ में है। इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वर्णों का परिवर्तित हो जाना अत्यन्त सरल और युक्तियुक्त बात है। आपके यहाँ मनुस्मृति [२।१४८] में लिखा है कि जाति आचार्य निश्चित करता है अर्थात् वह मनुष्यकृत है और भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय १५, श्लोक १६ में लिखा है कि जाति जन्म से नहीं, फिर वर्ण कर्मानुसार परिवर्तित क्यों नहीं होंगे?

४२. पोपजी—आर्योद्देश्यरत्नमाला में जिस स्वभाव को नित्य तथा अविनाशी माना है, वह कैसे बदल जाता है?

तोपजी—जिस स्वभाव को आर्योद्देश्यरत्नमाला में नित्य और अविनाशी लिखा है वह है अग्नि में प्रकाश और उष्णता, वर्ण-व्यवस्था में वह स्वभाव शब्द नहीं है, अपितु वर्ण-व्यवस्था के विषय में स्वभाव नाम प्रकृति का है जो समय-समय पर परिवर्तित होती रहती

है। जब भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय २०, श्लोक ७२-७३ में लिखा है कि दस सहस्र मुसलमानों को मिस्र से भारत लाकर ब्राह्मण बनाया गया तो स्वभाव का परिवर्तन क्यों न माना जाए?

४३. पोपजी—स्वभाव माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा जन्म से बनता है या नहीं? यदि नहीं बनता तो उसकी उत्पत्ति का समय, प्रकार और कारण क्या हैं?

तोपजी—शारीरिक वस्तु का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और आत्मिक वस्तु का आत्मा पर पड़ता है, अत: माता-पिता के रज-वीर्य का प्रभाव बच्चे के शरीर पर निर्बलता या सबलता के रूप में पड़ता है, परन्तु स्वभाव का सम्बन्ध शरीर से नहीं अपितु आत्मा से है और वह अच्छी या बुरी सङ्गति से परिवर्तित होता रहता है। माता, पिता, गुरु, मिलने-जुलनेवाले, मित्र आदि के स्वभाव जैसे होंगे, बच्चों के भी वैसे ही बन जाते हैं, यदि स्वभाव को आप माता-पिता के शरीर का भाग मानते हैं तो फिर ब्राह्मण के घर उत्पन्न होकर वे मुसलमान, ईसाई क्यों हो जाते हैं और आप उन्हें ब्राह्मण मानकर उनसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध क्यों नहीं करते?

४४. पोपजी—स्वभाव का बदलना कभी सम्भव है या नहीं? यदि सम्भव है तो कब-कब, किस-किस प्रकार और किस-किस कारण से बदलता है?

तोपजी—यदि स्वभाव से आपका तात्पर्य स्वाभाविक धर्म है, जैसाकि अग्नि में प्रकाश और उष्णता, पानी में शीतलता—तो यह स्वाभाविक धर्म परिवर्तित होना सम्भव नहीं; और यदि स्वभाव से आपका तात्पर्य प्रकृति से है तो वह समय-समय पर अच्छे या बुरे सङ्ग से बदलता रहता है। यदि स्वभाव परिवर्तित नहीं हो सकता तो दस सहस्र मुसलमानों का ब्राह्मण बनना कैसे सम्भव हो गया?

४५. पोपजी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के स्वभाव की परीक्षा गुण-कर्मों से ही होती है और स्वभाव गुण-कर्म के विरुद्ध नहीं होता, अपितु अनुकूल ही होता है, क्योंकि स्वभाव गुण-कर्मों के परिणाम का नाम है। यदि गुण-कर्मों के परिवर्तित होने पर भी स्वभाव स्थिर रहता है तो ब्राह्मण के मुसलमान होने, गोवध करने और गोमांस खाने पर भी ब्राह्मणपन स्थिर क्यों नहीं रहता?

४६. पोपजी—गुण द्रव्याश्रित होते हैं; कर्म स्वयं जड़ हैं, जन्म को इनका आधार न मानने पर आपके मत में इनका आधार क्या है? और जाति तथा वर्ण में परिवर्तनशील कौन है तथा वर्ण शब्द शरीर में कब घटता है।

तोपजी—गुण और कर्म दोनों ही द्रव्य के आश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण और कर्म दोनों ही पृथक् नहीं रह सकते। इनका आधार जन्म अर्थात् शरीर नहीं, अपितु आत्मा है। जाति और वर्ण में परिवर्तनशील वर्ण है और यह वर्ण जीवात्मा का नैमित्तिक गुण है। इसलिए जिस शरीर में जिस गुण-कर्म-स्वभाववाला जीव विद्यमान होता है, वह शरीर उसी वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, अन्यथा वर्ण नाम गुणों का है जोकि नैमित्तिकरूप से जीव में रहते हैं। यदि आप गुण-कर्मों का आश्रय शरीर को मानते हैं तो ब्राह्मण के मुसलमान होने पर वही शरीर रहते हुए भी उसके गुण-कर्म क्यों बदल जाते हैं?

४७. पोपजी—प्राचीन कर्मों के आधार पर जाति, आयु और भोग ईश्वर की ओर से नियत होते हैं, इन्हें मनुष्य इस जन्म में बदल सकता है या नहीं?

तोपजी—यदि जाति से आपका तात्पर्य मनुष्य, गाय, घोड़ा, हाथी, वृक्ष, पशु, पक्षी से है तो वह इस जन्म में परिवर्तित नहीं हो सकती; और यदि जाति शब्द से आप ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लेते हैं तो वर्त्तमान गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार जैसे आयु और भोग बदल जाते हैं, वैसे ही जाति भी परिवर्तित हो जाती है। जब अकालमृत्यु होना सम्भव है और पुरुषार्थ से भोग भी बदल जाता है, तब दो के बदलने से जाना जाता है कि कर्म के अनुसार जाति भी परिवर्तित हो जाती है। यदि जाति का परिवर्तन होना आप नहीं मानते तो जो आठ करोड़ हिन्दू मुसलमान बने हैं, इन्हें हिन्दू ही स्वीकार कर लें, बस, बेड़ा पार है।

४८. पोपजी—वर्ण-परिवर्तन में विश्वामित्र आदि का जो इतिहास दिया जाता है, वह किस वेद में है? यदि किसी वेद में नहीं है तो इस परिवर्तन को अवैदिक क्यों न माना जाए? और रामायण में जो इतिहास आता है वह दस सहस्त्र वर्ष तक तप करने के साथ आता है। इसे न मानकर केवल एक को मानना कैसे ठीक हो सकता? यदि सम्भव है तो दोनों ठीक हैं, अन्यथा दोनों असम्भव हैं।

तोपजी—वर्ण के परिवर्तन में हम विश्वामित्र का जो इतिहास देते हैं, वह, क्योंकि वेदानुकूल है, इसलिए देते हैं। वेदों में किसी का इतिहास नहीं है। चूँकि वेद कर्मानुसार वर्ण के परिवर्तन का वर्णन करते हैं, अतः विश्वामित्र का कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन वेदानुकूल होने से वैदिक है और क्योंकि वेदों में मनुष्य की अवस्था अधिक-से-अधिक चार सौ वर्ष की वर्णित की गयी है, अतः रामायण का दस सहस्त्र वर्ष का तप-वर्णन वेद के विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं और भविष्यपुराण में केवल एकादशी के व्रत से और शिवपुराण में केवल कार्तिककुमार के वर से तथा मनुस्मृति में वेद के अध्ययन से विश्वामित्र का वर्ण-परिवर्तन लिखा है, क्योंकि कारणों के सम्बन्ध में स्वयं पुराणों में विरोध है और वर्ण के परिवर्तन के सम्बन्ध में सब सहमत हैं, अतः वर्ण का परिवर्तन मानने के योग्य और दस सहस्त्र वर्ष का तप मानने के योग्य नहीं है। यदि किसी स्थान पर सत्य और असत्य को मिलाकर वर्णित किया गया हो तो ऐसे अवसर पर वेदों की कसौटी प्रमाण है। जो वेद के अनुकूल हो वह सत्य और मानने के योग्य है और जो वेदों के विरुद्ध हो वह झूठ और त्यागने के योग्य है। इसलिए विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण बनना वेदानुकूल और मानने योग्य है और दस सहस्त्र वर्ष का तप वेदों के विरुद्ध और छोड़ने के योग्य है। यदि आप किसी ग्रन्थ को सम्पूर्णरूप से मानने के पक्ष में हैं तो भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ४० से ४४ तक जो प्रबल तर्क और युक्तियों से जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का खण्डन और कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का मण्डन है, उसे आप क्यों नहीं मानते हैं?

४९. पोपजी—द्विज के लिए किस वेद में असवर्ण विवाह लिखा है? यदि नहीं लिखा तो इस अवैदिक प्रथा का क्यों प्रचार किया जाता है?

तोपजी—आर्यसमाज प्रत्येक पुरुष का अपने वर्ण की स्त्री से विवाह होना ही वेदानुकूल मानता है। चूँकि आर्यसमाज जन्म से वर्ण-व्यवस्था नहीं मानता, अपितु कर्म से मानता है, अतः वर्त्तमान जन्ममूलक जाति-पाति को वह स्वीकार नहीं करता। इसलिए आर्यसमाज इस बात का प्रचार करता है कि वर्त्तमान जन्म-मूलक, कपोलकल्पित जाति-पाति का विचार न करते हुए जिस लड़की के जिस लड़के के साथ गुण-कर्म-स्वभाव मिलते हों, उनका आपस में विवाह हो जाना चाहिए, चाहे उनका जन्म विभिन्न वर्णों में ही हुआ हो। आर्यसमाज इसका प्रचार इस प्रयोजन से करता है कि जन्ममूलक जाति-पाति टूटकर गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था स्थिर हो जाए। आपके विचार में यदि दूसरे वर्ण में विवाह होना अवैदिक और पाप है तो क्षत्रिय कृष्ण का वैश्य की लड़की राधा से और ऋष्यश्रृंग ब्राह्मण का राजा रोमपाद की पुत्री शान्ता से विवाह अवैदिक और पाप क्यों नहीं?

५०. पोपजी—अथर्ववेद में केवल द्विजों के लिए वेदाधिकार मिलता है। स्वामीजी

यजुर्वेद के एक पद से सबको अधिकार बताते हैं। ईश्वरीय पुस्तक में यह परस्पर-विरोध क्यों है? और दोनों में ठीक क्या है?

तोपजी—आपने अथर्ववेद का कोई सन्दर्भ [पता] नहीं दिया कि कौन-से मन्त्र में केवल द्विजों के लिए वेद का अधिकार वर्णित किया गया है। प्रतीत होता है कि जनता को धोखा देने के लिए आपने अपने स्वभाव के अनुसार गप्प हाँक दी है। हम डंके की चोट घोषणा करते हैं कि चारों वेदों में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है जो किसी मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का निषेध करता हो, वरन् चारों ही वेद मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार देते हैं, इसलिए ईश्वरीय ज्ञान वेद में परस्पर-विरोध का नाम व चिह्न भी नहीं है, अपितु भविष्यपुराण उत्तरपर्व अध्याय १११, श्लोक ५४ में कंजरी और अध्याय ६९, श्लोक ८२ से ८५ तक में शूद्रों और स्त्रियों को भी वेदों के अध्ययन का अधिकार लिखा है।

५१. पोपजी—स्वामीजी के ग्रन्थों में शूद्र के लिए कहीं पर उपवीत का अधिकार है या नहीं? यदि नहीं तो किस वेद के आधार पर उसे उपवीत दिया जाता है और किस वेद के आधार पर स्वामीजी ने मूर्ख को शूद्र कहा है?

तोपजी—स्वामीजी ने यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र ११ के आधार पर मूर्ख को शूद्र बताया है। स्वामीजी तीन वर्णों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी मानते हैं, शूद्रों को यज्ञोपवीत रखने का अधिकारी नहीं मानते। वैदिक राज्य में चूँकि गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था नियत की जाती थी, इसलिए जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में कोई मूर्ख रह जाता था तो उसका यज्ञोपवीत उतारकर उसे शूद्र बना दिया जाता था और शूद्रों में से जो व्यक्ति उन्नति करके गुण-कर्म-स्वभावानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बनने के योग्य हो जाता था, उसे यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में सम्मिलित कर लिया जाता था। आजकल वैदिक राज्य नहीं है, इसलिए हम यज्ञोपवीत दे तो सकते हैं, परन्तु किसी का यज्ञोपवीत उतार नहीं सकते। आजकल सहस्रों व्यक्ति मूर्ख और दुराचारी होने पर भी केवल यज्ञोपवीत के कारण बड़े बने हुए हैं। इनकी झूठी बड़ाई और अभिमान का नाश करने के लिए हम प्रत्येक उच्च और पतित को यज्ञोपवीत देते हैं, जिससे कोई व्यक्ति केवल यज्ञोपवीत के कारण अपने-आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाने के योग्य न रहे अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के गुण-कर्म-स्वभाव को प्राप्त करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहा सके। यदि वे व्यक्ति जो गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के योग्य नहीं हैं, स्वयमेव अपना यज्ञोपवीत उतार दें, तो हम शूद्रों को तब तक यज्ञोपवीत नहीं देंगे जब तक वे गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनने के योग्य न हो जाएँगे, अन्यथा हमने यह प्रतिज्ञा की हुई है कि हम किसी को केवल यज्ञोपवीत के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाने के योग्य नहीं छोड़ेंगे और आपके यहाँ गरुडपुराण आचारकाण्ड, अध्याय ४३, श्लोक ९-१० में जो शूद्रों का यज्ञोपवीत लिखा है, उसके सम्बन्ध में आपकी क्या स्थिति है?

५२. पोपजी—जो बालक उत्पन्न होता है उसमें गुण-कर्म तो होते नहीं, फिर किस आधार पर शर्मा आदि नाम रक्खा जाता है? वयस्क होने पर यदि वह लड़का मूर्ख रहा तो पहले नाम से बुलाया जा सकता है या नहीं? यदि नहीं तो एक वैदिक संस्कार निरर्थक हुआ या नहीं?

तोपजी—जब तक बालक कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हो जाता तब तक उसके सब संस्कार माता-पिता के वर्ण के अनुकूल किये जाते हैं। यदि प्रयत्न के पश्चात् भी वह मूर्ख रह जाए तो वह उस नाम से नहीं पुकारा जाएगा, अपितु उसे शूद्रों के योग्य नाम दिया जाएगा। वैदिक संस्कार तो उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनाने के प्रयत्न में किया गया था। यदि उस संस्कार का उसपर प्रभाव नहीं पड़ा तो बालक निरर्थक हुआ, न कि संस्कार। जैसे, यदि कोई सनातनधर्मी मुसलमान हो जाए तो उसे पूर्व-नाम से नहीं पुकारा जाएगा,

अपितु मुसलमानी नाम से पुकारा जाएगा; इससे ब्राह्मणवर्ण के संस्कार निरर्थक नहीं, अपितु वह व्यक्ति निरर्थक है जो इन संस्कारों से प्रभावित नहीं हुआ। इसी प्रकार मूर्ख रहनेवाला लड़का निरर्थक है जो संस्कारों से प्रभावित नहीं हुआ, संस्कार निरर्थक नहीं। यदि आपके विचार में कर्मों के परिवर्तित होने पर भी संस्कार स्थिर रहते हैं तो फिर ब्राह्मणों के ईसाई और मुसलमान होने पर आप इन्हें शर्मा, वर्मा नामों से क्यों नहीं बुलाते?

५३. पोपजी—रज-वीर्य की प्रधानता यदि सन्तान में न मानी जाए तो आज जो बालक उत्पन्न हुआ है, उसमें दाढ़ी और मूँछ तो है नहीं, फिर कहाँ से आते हैं? यदि आते हैं तो रज-वीर्य प्रधान रहा या गुण-कर्म?

तोपजी—हम पूर्व लिख चुके हैं कि माता-पिता के रज-वीर्य का प्रभाव बालक के शरीर पर होता है और बालक की आत्मा पर माता-पिता की उत्तम या निकृष्ट संगति का प्रभाव पड़ता है। गुण-कर्म का सम्बन्ध शरीर से नहीं है, अपितु आत्मा से है और दाढ़ी-मूँछ का सम्बन्ध शरीर से है, अतः शारीरिक विषय में रज और वीर्य ही प्रधान रहेगा और गुण-कर्म-स्वभाव के विषय में सङ्ग अर्थात् आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान प्रधान रहेगा और वर्ण के विषय में गुण-कर्म-स्वभाव ही प्रधान रहेगा। यदि आप रज-वीर्य को ही प्रधान मानते हैं, तो फिर शुद्धि से क्यों घबराते हैं? किसी के ईसाई-मुसलमान होने से रज-वीर्य तो नहीं बदलता?

५४. पोपजी—गर्भाधान के अन्त में स्वामीजी ने लिखा है कि स्त्री जब गर्भवती हो तब ऐसा भोजन करे जिससे गर्भस्थ बालक के गुण-कर्म-स्वभाव उत्तम हों। यहाँ पर स्वभाव का अर्थ यदि शरीर नहीं तो इस पहेली का क्या अर्थ है?

तोपजी—स्वामीजी ने वहाँ स्पष्टरूप से लिखा है कि युक्त आहार-विहार स्त्री करे। यहाँ आहार का अर्थ भोजन और विहार का अर्थ उत्तम सङ्ग है। जहाँ पर माता के भोजन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, वहाँ पर माता की अच्छी या बुरी संगति का प्रभाव आत्मा द्वारा बच्चे के गुण-कर्म-स्वभाव पर पड़ता है, इसलिए यहाँ स्वभाव का अर्थ शरीर नहीं, अपितु प्रकृति ही है, अन्यथा बतलाइए कि वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अन्त में यह क्यों लिखा है कि इन्हें गर्भवती और ऋतुमती स्त्रियाँ विशेषरूप से सुनें। इनका प्रभाव शरीर पर पड़ता है या आत्मा पर?

५५. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि विद्या पढ़ने के लिए पति परदेश जाए और छह वर्ष तक न आये तो स्त्री नियोग करे और फिर जब प्रथम पति विदेश से आये तो नियुक्त पति को छोड़कर पुनः उसी को करे। यह लेख किसी वेद में हो तो दिखलाओ। यह व्यभिचार-प्रचारक लेख है।

तोपजी—हम पहले लिख चुके हैं कि वेद में आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन होता है। उसकी व्याख्या स्मृतियाँ किया करती हैं। फलस्वरूप अथर्ववेद [१८।३।१-३] में आधारभूत सिद्धान्त वर्णित किया गया है कि स्त्री को दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है। किस अवस्था में अधिकार है, इसका वर्णन मनुस्मृति में विद्यमान है और उपर्युक्त कथन कि 'पति परदेश जाए और स्त्री अपने को संयम में न रख सके तो नियोग करे' यह व्याख्या मनुस्मृति [९.७६] में विद्यममान है। चूँकि नियोग व्यभिचार से बचाने के लिए एक अस्थायी रस्म है, अतः पति के आ जाने पर उनका पूर्ववत् पति-पत्नी का सम्बन्ध है ही। यह रस्म (प्रथा) चूँकि वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार दोनों पक्षों की स्वीकृति से आचरण में आती है, इसलिए इसे व्यभिचार नहीं कहा जा सकता।

हाँ, भविष्यपुराण में त्रिपाठी के एक मास कथा करने के लिए चले जाने पर कामिनी

का अपने को वश में न रखकर एक लकड़हारे को पाँच रुपया देकर उससे भोग करना और गर्भ होने पर त्रिपाठी का उसके सब संस्कार करना तथा गोतम के केवल स्नान के लिए घर से बाहर जाने पर अहल्या का इन्द्र से भोग करना और कुछ समय के पश्चात् गोतम का उसे स्वीकार कर लेना, बृहस्पति की स्त्री तारा का चन्द्रमा से व्यभिचार करना और गर्भ होने पर चन्द्रमा और बृहस्पति का झगड़ना कि लड़का क्षेत्रवाले का है या बीजवाले का और उद्दालक का अपने शिष्य के साथ अपनी स्त्री का भोग करवाकर श्वेतकेतु का उत्पन्न करना—ये व्यभिचार-लेख अवश्य हैं।

५६. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि जिस दिन गर्भाधान करना हो और जिस दिन कन्या ऋतुमती होकर शुद्ध हो चुके उस दिन रात्रि को दस बजे विवाह करे और उसी दिन वर और वधू एकान्त सेवन करें—यह लेख वेद के विरुद्ध है, यदि नहीं तो ऐसा लेख वेद में दिखाओ।

तोपजी—अथर्ववेद काण्ड १४, सूक्त १, मन्त्र ५१-५७ तक में वर और कन्या को विवाह करने की आज्ञा है। विवाह के पश्चात् वर और वधू जब उचित समझें गर्भाधान संस्कार कर सकते हैं, इसमें कोई पाप की बात नहीं। ये बातें देश-काल के अनुसार रीति-रिवाजों [प्रथाओं] से सम्बन्ध रखती हैं कि कब गर्भाधान किया जाए। वेद की तो यही आज्ञा है कि विवाह के बिना गर्भाधान न किया जाए। विवाह के पश्चात् उचित विधि से एकान्तसेवन करना क्या पाप है? यह भी उन्हीं की इच्छा पर निर्भर है कि ऐसे अवसर पर विवाह की विधि पूर्ण करें जब कन्या ऋतु से शुद्ध हो चुकी हो, तत्पश्चात् गर्भाधान करें। इसमें कौन-सा वेदमन्त्र विरोध करता है, कृपाय लिखें। हाँ, पराशर का बिना विवाह नौका में ही सत्यवती से सम्भोग करना और इन्द्र का बिना ऋतु-समय के पर-स्त्री से भोग करना अवश्य ही वेदविरुद्ध पाप है।

५७. पोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक माना जाता है। 'सर्व' शब्द से यहाँ पर पञ्चमहाभूत से तात्पर्य है। व्यापक द्रव्य व्याप्य द्रव्य के बिना कभी नहीं रहता। आर्यसमाज ईश्वर को निराकार मानता है तब व्याप्य-व्यापकभाव-सम्बन्ध प्रकृति से सर्वशक्तिमान् ईश्वर किस-किस क्षण में उक्त सम्बन्ध को छोड़ता है, यदि नहीं छोड़ता तो निराकार कब रहता है?

तोपजी—निःसन्देह ईश्वर सर्वव्यापक है। 'सर्व' शब्द के केवल पञ्चमहाभूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ही अभीष्ट नहीं अपितु अनन्त जीवात्मा भी 'सर्व' में सम्मिलित हैं। व्यापक और व्याप्य का समवाय-सम्बन्ध है, अतः व्याप्य पदार्थ व्यापक से पृथक् हो ही नहीं सकते। सम्बन्ध के छूटने का विचार करना मूर्खता है। ईश्वर निराकार है तभी तो प्रकृति और जीवों में व्यापक है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तु स्थूल में व्यापक हो सकती है। यदि ईश्वर को साकार मान लिया जाए तो उसे व्यापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि साकार वस्तु सीमित होती है और उसका ज्ञान, बल तथा क्रिया भी सीमित होते हैं। यदि ईश्वर को शरीरी मान लिया जाए तो न वह सर्वव्यापक हो सकता है और न सर्वज्ञ और न ही सृष्टि का कर्त्ता बन सकता है, अतः ईश्वर निराकार ही है। व्याप्य के साकार होने से व्यापक का साकार होना आवश्यक नहीं, वह प्रत्येक अवस्था में निराकार है, इसलिए यह प्रश्न पूर्णरूप से आपकी मूर्खता का प्रमाण है।

५८. पोपजी—शब्द-चिह्न ज्ञान का कोई आकार नहीं है, परन्तु वह शब्द के बिना प्राप्त नहीं होता। शब्द प्रायः चिह्न होते हैं। अक्षर मनुष्यकृत संकेत-मात्र हैं। जिस प्रकार अक्षरों का अभ्यास शब्द-चिह्न ज्ञान का साधन है, इसी प्रकार सूर्यादि देव-उपासना ईश्वर-प्राप्ति का साधन हैं या नहीं?

तोपजी—जो पदार्थ एक इन्द्रिय का विषय हो, उसे संकेत के द्वारा दूसरी इन्द्रिय का विषय बनाया जा सकता है, जैसे अन्धों का पुस्तकें पढ़ना और गूँगों-बहरों का संकेतों से समझना हो सकता है। शब्द चूँकि कानों का विषय है, इसलिए इन शब्दों को अक्षरों के संकेत के द्वारा आँखों का विषय बनाया जाता है। ईश्वर, क्योंकि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, अतः उसे मूर्त्ति आदि द्वारा आँखों का विषय नहीं बनाया जा सकता। हाँ, जैसे घड़े को देखकर उसके बनानेवाले कुम्भकार के होने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार से ही ईश्वर के द्वारा रची हुई सूर्य आदि वस्तुओं को देखकर ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है, परन्तु उसकी उपासना का साधन सूर्य आदि पदार्थ और मूर्त्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत परमात्मा की प्राप्ति आत्मा के द्वारा ही हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। क्या आपके विचार में अक्षरों की भाँति मूर्त्तियाँ भी झूठी कल्पना ही हैं? और जिस प्रकार अन्धों को बिना अक्षरों के ज्ञान हो जाता है, क्या इसी प्रकार मूर्त्तियों के बिना भी ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है या नहीं?

५९. पोपजी—व्याप्य घड़ी में काल व्यापक है। निराकार काल का ज्ञान जिस प्रकार सूर्य अथवा घड़ी से होता है, इसी प्रकार निराकार ईश्वर का ज्ञान बिना प्रकृति की उपासना के सम्भव है या नहीं?

तोपजी—काल का नित्य पदार्थों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता। काल अपेक्षा से उत्पन्न हुई वस्तु है। जब काल स्वयं एक कल्पित वस्तु है तो कल्पित काल का उत्पन्न हुई वस्तुओं सूर्य और घड़ी आदि से कल्पित ज्ञान होता है। इससे सिद्ध है बनावटी वस्तु का बनावटी वस्तुओं के द्वारा बनावटी ज्ञान हो सकता है, परन्तु अनुत्पन्न ईश्वर का मनुष्य की कलाकृतियों के नमूनों—मूर्त्ति आदि से साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। परमात्मा की उपासना जड़प्रकृति के द्वारा नहीं हो सकती। हाँ, ईश्वर के रचे हुए प्राकृतिक जगत् से ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान हो सकता है, परन्तु उसका ज्ञान—साक्षात् अनुभव आत्मा को परमात्मा के ध्यान में योग-समाधि लगाने से ही हो सकता है। ईश्वर की प्राप्ति इन्द्रियों और इन्द्रियों से जाने जानेवाले पदार्थों के द्वारा नहीं हो सकती, अतः ईश्वर की प्राप्ति के सम्बन्ध में काल और घड़ी का दृष्टान्त सोलह आने ग़लत है। क्या आपके विचार में मूर्त्तियाँ भी घड़ी की भाँति काल्पनिक वस्तु हैं? जैसे अन्धे बिना घड़ी के ही समय का अनुमान लगा लेते हैं, क्या ऐसे ही बिना मूर्त्तियों के ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं?

६०. पोपजी—व्याप्य शरीर में जीव व्यापक है। जीव को इस संसार के सुख से तृप्त करने के लिए इन्द्रियों को प्रसन्न रखना पड़ता है। जिस प्रकार शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण करना और चन्दन आदि लगाना व्यापक जीव को तृप्त करता है, उसी प्रकार सूर्यादि देव-उपासना विश्वव्यापक ईश्वर को तृप्त कर सकती है या नहीं?

तोपजी—जीव शरीर में व्यापक नहीं है। यदि जीव को शरीर में व्यापक माना जाए तो एक तो यह मानना पड़ेगा कि जब कीड़ी का जीव हाथी में जाता होगा तो इसे फैलकर हाथी के जीव में व्यापक होना पड़ता होगा और हाथी का जीव जब कीड़ी में जाता होगा तो उसे सिकुड़कर कीड़ी जितना बनना पड़ता होगा और जिस वस्तु में फैलना और सिकुड़ना हो सकता है वह वस्तु अविनाशी—नित्य नहीं मानी जा सकती। दूसरे, यदि किसी व्यक्ति की भुजा काट दी जाए तो भुजा के काटने से उस भुजा में जो जीव व्यापक है, भुजा के कटने के साथ वह भी कट जाता है अथवा वह सिकुड़कर शेष शरीर में चला जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में जीव नित्य नहीं रह सकता, अतः जीव शरीर में व्यापक नहीं है, अपितु जीव अणु-परिमाण होने से शरीर में एक स्थान हृदय में रहता है और दीपक के

प्रकाश की भाँति उसकी शक्तियाँ सारे शरीर में काम करती हैं।

जीव जिस शरीर में जाता है, उसे देहाभिमान होता है, अर्थात् वह अपने-आपको शरीर के साथ तद्रूप मान लेता है, अत: शरीर के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार करने से जीव सुख या दु:ख का अनुभव करता है। ईश्वर जो सूर्य-चन्द्र, पृथिवी-पर्वत आदि में व्यापक है वह ज्ञानी होने से इन वस्तुओं को शरीर की भाँति तद्रूप नहीं मानता। यदि हम यह मान लें कि वह भी इन वस्तुओं में तद्रूपभाव से रहता है तो जैसे शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण करने और चन्दन आदि लगाने से जीवात्मा प्रसन्न होता है, उसी प्रकार सूर्य आदि की उपासना से ईश्वर की प्रसन्नता मानेंगे। इसी प्रकार जैसे शरीर को मारने, पीटने, काटने आदि से जीव को दु:ख होता है उसी प्रकार पृथिवी को खोदने, पर्वतों को तोड़ने से ईश्वर को भी बड़ा भारी कष्ट मानना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर का सूर्य-चन्द्र, पृथिवी-पर्वत आदि के साथ वैसा शरीर-शरीरीवाला सम्बन्ध नहीं है जैसाकि जीवात्मा का शरीर के साथ शरीर-शरीरी का सम्बन्ध है, अत: मूर्त्तिपूजा के लिए यह उदाहरण बिल्कुल अर्थहीन और व्यर्थ है।

६१. पोपजी—वायु सर्वव्यापक है, परन्तु जब इसे विशेषरूप से काम में लाना होता है तब पंखे का हिलाना आवश्यक होता है, इसी प्रकार सर्वव्यापक ईश्वर के लिए भी सूर्यादि में विशेष भावना मानी जाए, जैसाकि यजुर्वेद [३२।१] में कहा गया है।

तोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक, एकरस और अचल है, परन्तु वायु प्रथम तो सर्वव्यापक नहीं है, दूसरे वह एकरस और अचल नहीं है, अपितु चलती-फिरती और स्थान-स्थान पर कम या अधिक है, अत: वह पंखे के द्वारा चलायमान और इकट्ठी की जा सकती है, परन्तु ईश्वर सब स्थानों पर एकरस और अचल है, अत: सूर्य आदि में उसकी विशेष भावना करना सर्वथा ग़लत है। यजुर्वेद [३२।१] में इस बात की चर्चा नहीं है, प्रत्युत वहाँ तो ईश्वर के नामों की गणना की गयी है कि उस परमात्मा को आदित्य, चन्द्रमा, वायु और प्रजापति के नाम से भी वेदों में वर्णित किया गया है। इसलिए मूर्त्तिपूजा में वायु और पंखे के उदाहरण सर्वथा ग़लत और तर्क तथा युक्ति से शून्य हैं तथा वेदान्तदर्शन [४।१।४] में सूर्य आदि में ब्रह्म की उपासना का प्रबल खण्डन किया गया है। इसका आप क्या उत्तर देते हैं?

६२. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १२८ पर प्रश्न-उत्तर में स्वामीजी लिखते हैं कि 'यदि वेद किसी और भाषा में बनाये जाते तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस भाषा में वेद बनाये जाते, वे उस भाषा के जाननेवालों के लिए सरल हो जाते और दूसरों के लिए कठिन, इसलिए संस्कृत में [जो किसी देश की भाषा नहीं है] बनाये गये।' स्वामीजी के इस लेख से प्रकट होता है कि वेद-रचना से पूर्व सृष्टि-रचना हो चुकी थी, अपितु देश और उनकी भाषाएँ भी पूर्णरूप से प्रचलित हो चुकी थीं कि जिनमें वेद बनाये जा सकते थे, अन्यथा यह प्रश्न ही उत्पन्न होना असम्भव है कि वेद अमुक भाषा में इसलिए नहीं बनाये गये आदि-आदि। स्वामीजी के इस लेख से आर्यसमाजियों के वेद अनादि सिद्ध नहीं हो सकते।

तोपजी—वेद सृष्टि के आरम्भ में हुए। वेदों की वाणी से पूर्व संसार में कोई भाषा नहीं थी। उस समय सब मनुष्यों की भाषा संस्कृत ही थी जोकि वेदों से ही आरम्भ हुई। स्वामीजी ने उपर्युक्त लेख क़ुरआन और बाइबिल आदि को दृष्टि में रखकर लिखा है कि जब क़ुरआन और बाइबिल का अवतरण हुआ तब संसार में अनेक भाषाएँ थीं, फिर परमेश्वर का अरबी भाषा में ज्ञान देना और अन्य भाषाओं में न देना पक्षपात हुआ, क्योंकि अरबवालों को समझना सरल और दूसरों को कठिन हुआ, परन्तु वेद के प्रकाश में कोई पक्षपात नहीं, क्योंकि उस समय तो देववाणी के अतिरिक्त और कोई भाषा थी ही नहीं और अब भी वे

किसी देश की भाषा में नहीं है, अपितु सब देशवालों को उनके पढ़ने में एक-जैसा परिश्रम करना पड़ता है, अतः ईश्वरीय ज्ञान का सृष्टि के आरम्भ में होना ठीक और बाद में होना ग़लत है। आपने इस बात को न समझकर यूँ ही प्रश्न करने की मूर्खता की है, अन्यथा वेद नित्य हैं।

मुसलमान यह प्रश्न भी करते हैं कि वेद वर्त्तमान युग के किसी भी देश की भाषा में क्यों नहीं, इसका उत्तर आप ही बतलाएँ सनातनधर्म की ओर से क्या देंगे? जब वेद आपके और हमारे एक ही हैं और आपके सिद्धान्तानुसार तो जब ईश्वर इस बात को जानता था कि भविष्य में संसार में बहुत-सी भाषाएँ बोली जाएँगी, इसी बात को दृष्टि में रखकर वेद ऐसी भाषा में बनाये जिस भाषा को किसी भी देश में न बोला जाना था।

६३. पोपजी—यजुर्वेद [२५।७] में लिखा है कि स्थूल गुदा-इन्द्रियों से अन्धे साँपों को और गुदा-इन्द्रियों से कुण्डलीवाले साँपों को पकड़ो—इसका क्या अर्थ है?

तोपजी—यह वैद्यक का विषय है। मनुष्य का मेदा (पाचन-संस्थान) खराब हो जाने से उनमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जोकि छोटे और बहुत लम्बे भी होते हैं, उनकी आँखें नहीं होती, अतः वेद में उन्हें अन्धे साँपों के नाम से वर्णित किया है और क्योंकि वे गुदा के अन्दर ही होते हैं, अतः वेद ने आज्ञा दी कि ऐसे कीड़ों को अर्थात् अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ो अर्थात् गुदा में से निकालो। विस्तार से देखो प्रश्न नं० ११ के उत्तर में और दूसरा वर्णन गरुडपुराण आचारखण्ड अध्याय १६५ में विस्तार से दिया हुआ है। आपके तात्पर्य के अनुसार तो अर्जुन, ब्रह्मा और नारद को यही व्यसन था कि जिन्होंने कृष्ण, राक्षसों और तालध्वज के अन्धे साँपों को गुदा से पकड़ा।

६४. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १६ पर लिखा है कि माता द्वारा बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि मूत्रेन्द्रिय के छूने से तथा इसे हाथ से मलने से वीर्य गिरता है जिससे नामर्दी पैदा हो जाती है और हाथों से बदबू आने लगती है। स्वामीजी का यह लेख किस वेद के आधार पर है और यदि कोई बालक माता से वीर्य और नामर्दी की वास्तविकता पूछे तो माता को क्या उपदेश देना चाहिए?

तोपजी—स्वामीजी ने यह बात अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त पाँच के आधार पर लिखी है। आप कोई ऐसा वेदमन्त्र प्रस्तुत करें जो इसके विरुद्ध हो। माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को ब्रह्मचर्य को नष्ट करनेवाले दुष्ट व्यसनों से पहले ही सावधान कर दें और रोक दें। माता-पिता और गुरु का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के प्रश्न करने पर उसका ठीक-ठीक उत्तर देकर उसकी पूरी सन्तुष्टि कर दें चाहे वह प्रश्न वीर्य के बारे में हो और चाहे नामर्दी के बारे में हो। यदि आपको स्वामीजी की यह शिक्षा पसन्द नहीं तो आप सनातनधर्मवालों की माताओं को कहें कि वे बच्चों को यह शिक्षा दें कि बेटे! मूत्रेन्द्रिय को हाथ में पकड़कर खूब हिलाया करो, क्योंकि इसमें से ब्रह्मरस टपकता है।

६५. पोपजी—यजुर्वेद अध्याय ३७, मन्त्र ९ का स्वामी दयानन्दजी यह भाष्य करते हैं कि मैं (ईश्वर) घोड़े की लीद से तुम्हें तपाता हूँ।

तोपजी—यह भी वैद्यक का विषय चल रहा है और इस भाष्य का अर्थ स्पष्ट है कि ईश्वर आज्ञा देता है कि चोट आदि लगने से दर्द होने पर मैं तुम्हें लीद से टकोर करने की आज्ञा देता हूँ। श्रीमान्‌जी! गरुडपुराण आचारखण्ड अध्याय १३९, श्लोक १४-१५ में तो बुखार और पागलपन की चिकित्सा में बन्दर, गीदड़, घोड़े आदि सबके पाखाने की धूनी देनी लिखी है।

६६. पोपजी—आर्यसमाज वेद की ११३१ शाखाओं में से केवल चार शाखाओं को

ही वेद मानती है, तो बताएँ कि इनके ईश्वरकृत होने में क्या प्रमाण है और शेष ऋषिकृत क्यों?

तोपजी—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये चारों मूल वृक्ष हैं, शेष शाखाएँ हैं। ये चारों शाखाएँ नहीं, इसके कारण निम्न हैं। मूल वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है और शेष ११२७ शाखाएँ, विभिन्न ऋषियों की रचनाएँ हैं। ऋग्वेदादि चारों वेद मूल मन्त्रसंहिताएँ हैं, शेष में मन्त्रों की प्रतीकें देकर उनकी व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार चारों मूलसंहिता मन्त्रभाग वृक्षरूप हैं और शेष व्याख्यारूप शाखाएँ हैं। यदि आपके विचार में ये सब ११३१ शाखाएँ ही हैं तो मूलवृक्ष कौन-सा है? यदि मूलवृक्ष कोई नहीं तो फिर ये शाखा किसकी हैं?

६७. **पोपजी**—संस्कार-विधि पृष्ठ ६८ पर स्वामीजी लिखते हैं कि उस्तरे को दायें हाथ में लेकर कहे कि 'हे उस्तरे! तुम्हारा नाम शिव है और तेरे पिता का नाम देवता। तू इस बालक को मत मार।' स्वामीजी उस समय भङ्ग के नशे में तो नहीं थे?

तोपजी—संस्कार-विधि में 'ओं शिवो नामासि'......इत्यादि वेदमन्त्र देकर केवल यह लिखा है कि इस मन्त्र को बोलकर 'उस्तरे को दायें हाथ में पकड़े' और कुछ नहीं लिखा और यजुर्वेद में इस मन्त्र का अर्थ ईश्वर-परक किया है। प्रतीत होता है कि जैसे कृष्णजी ने शराब के नशे में मस्त होकर निष्पाप साम्ब को शाप दे दिया था उसी प्रकार आप भङ्ग की तरङ्ग में केवल प्रश्नों की संख्या बढ़ाने की चिन्ता में बेहूदा प्रश्न कर रहे हैं।

६८. **पोपजी**—आर्यसमाज श्राद्ध किसी विशेष कर्म को मानती हो तो विवाह आदि के समान उसका विधान किस ग्रन्थ में है उसकी विधि कहाँ है। यदि नहीं तो श्राद्ध में टाँग क्यों?

तोपजी—आर्यसमाज प्रत्येक गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ—को कर्त्तव्य मानता है। इनमें एक पितृयज्ञ है। इसके दो भेद हैं—श्राद्ध और तर्पण। जीवित माता-पिता, आचार्य, राजा, साधु-महात्मा, पण्डित आदि—ज्ञान, अन्न और बल से रक्षा करनेवाले पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम श्राद्ध और उन्हें तृप्त करने का नाम तर्पण आर्यसमाज मानता है। इसकी विधि वेदादि शास्त्रों में विद्यमान है और इसकी आज्ञा भी वेद आदि शास्त्रों में दी हुई है। आप कृपा करके बतलाएँ कि मृतक पितरों को भोजन कैसे मिलता है? गरुडपुराण प्रेतखण्ड अध्याय १० में पहले तो लिखा है कि पितर जिस योनि में होता है, वैसा भोजन बन जाता है और आगे उसी स्थान पर लिखा है कि पितर स्वयं आते हैं और ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं। सीता ने स्वयं देखे और कोई कहता है कि आशीर्वाद ही मिलता है। यह क्या गोरखधन्दा है?

६९. **पोपजी**—यज्ञोपवीत का विधान किस वेद में है? मन्त्र प्रस्तुत करें।

तोपजी—यज्ञोपवीत का विधान यजुर्वेद[१] [१६।१७] में विद्यमान है। आप बतलाएँ, निषेध किस वेद में है? और यदि वेदों में नहीं तो आप क्यों पहनते हैं?

७०. **पोपजी**—आर्यसमाज के मत में सृष्टि में पहले कौन उत्पन्न हुआ? यदि कहो कि अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा आदि ऋषि, तो इन ऋषियों के देहधारी होने का तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?

तोपजी—सृष्टि के आरम्भ में सैकड़ों स्त्री-पुरुष, ऋषि आदि उत्पन्न हुए जिनमें चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा भी थे, क्योंकि इन चारों पर परमात्मा ने वेदों का

१. मन्त्र के शब्द हैं—**नमो हरिकेशायोपवीतिने।**

ज्ञान प्रकाशित किया; और ज्ञान का प्रकाश देहधारी मनुष्यों के हृदय में ही सम्भव हो सकता है, इसलिए ये चारों ऋषि शरीरधारी मनुष्य ही थे। आपके पास क्या प्रमाण है कि ये देहधारी नहीं थे।

७१. पोपजी—आर्याभिविनय में स्वामी दयानन्दजी वेदमन्त्र का अर्थ करते हुए निराकार ईश्वर को सोमरस पिलाना लिखते हैं। वह सोमरस क्या है? और क्या निराकार भी सोमरस पिया करता है?

तोपजी—स्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है कि सोमलता एक ओषधि होती है। इसके रस का नाम सोमरस है जोकि बुद्धि, आयु और शक्ति बढ़ानेवाली होती है। स्वामीजी ने इस मन्त्र के दो अर्थ किये हैं—एक ईश्वर से सम्बन्धित और दूसरा वायु-परक। स्वामीजी ने वायुपक्ष में सोमरस का पीना लिखा है और ईश्वरपक्ष में स्वीकार करना अर्थ किया है। 'सोमरस पीना' ईश्वर के साथ लगाकर आपने जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है। आपके विचार में साकार ईश्वर की मूर्त्तियाँ अवश्य भोजन करती हैं, तो क्या साकार ईश्वर शौच भी जाता है अथवा सब अन्दर ही भस्म हो जाता है?

७२. पोपजी—यदि आर्यसमाज ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानती है तो वह अवतार धारण क्यों नहीं कर सकता? यदि कर सकता है तो अवतार मानो, यदि नहीं तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं। दोनों में क्या स्वीकार है?

तोपजी—आर्यसमाज सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह मानता है कि वह अपने सृष्टि-उत्पत्ति आदि कार्य बिना किसी की सहायता के कर सकता है। 'अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध जो चाहे कर सकता है'—ऐसा अर्थ आर्यसमाज नहीं मानता। चूँकि अवतार अर्थात् जन्म धारण करना ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध है, यह यजुर्वेद [४०।८] में वर्णन किया गया है, अतः वह सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी अवतार धारण नहीं करता। यदि आप सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ करते हैं कि जो सब-कुछ कर सके तो क्या वह मर भी सकता है? और क्या वह अपने-जैसा दूसरा ईश्वर भी उत्पन्न कर सकता है? यदि नहीं तो आपके विचार में वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। भला! एक बात और बताने की कृपा करें कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो क्या वह बिना अवतार धारण किये रावण और कंस आदि को मारने तथा पृथिवी का उद्धार करने आदि कार्यों को नहीं कर सकता था? यदि नहीं कर सकता था तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा और यदि कर सकता था तो फिर अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता थी? इसलिए प्रत्येक अवस्था में ईश्वर का अवतार या जन्म वेदशास्त्र, बुद्धि और तर्क के विरुद्ध है।

७३. पोपजी—जब स्वामी दयानन्दजी ने रात्रि दस बजे विवाह का विधान नियत किया है और उसी समय विवाह में सूर्य के दिखलाने का मन्त्र लिखा है, तब रात्रि में सूर्य का दर्शन कैसे?

पोपजी—आपने उसी स्थान पर संस्कार-विधि में नीचे लिखी हुई पादटिप्पणी को नहीं पढ़ा जिसमें लिखा है कि "यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवे कि जिससे मध्यरात्रि तक विवाह-विधि पूर्ण हो जावे।" इस टिप्पणी से यह सिद्ध है कि स्वामीजी आधी रात्रि तक विवाह-विधि समाप्त करना चाहते हैं। चूँकि रात्रि के दस बजे आरम्भ करके आधी रात तक विधि समाप्त नहीं हो सकती, अतः दस बजे से आरम्भ करना उत्तर-विधि के लिए ही लिखा गया है, जिसमें ध्रुव और अरुन्धती दिखाना आवश्यक है; और पूर्व-विधि जिसमें सूर्य का दर्शन है, वह सायं से पहले ही होनी लिखी है। यह पादटिप्पणी से स्पष्ट है।

सूर्य का दर्शन तो आपकी पद्धति में भी है, तो आप क्या दिखाते हैं? आप कहीं सूर्य के स्थान पर कुछ और दिखाने का प्रयत्न तो नहीं करते?

७४. पोपजी—यजुर्वेद [२८।३२] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है कि स्त्रियों को बैलों की भाँति गर्भवती करो। स्वाभाविक मानवीय मैथुन की विधि के विरुद्ध ऐसा बेहूदा अर्थ क्यों?

तोपजी—बलिहारी है आपकी बुद्धि और समझ की! तनिक भाष्य को तो पढ़ें वहाँ किस विषय में उपमा दी है। देखिए—"हे मनुष्यो! जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ाता है वैसे गृहस्थ लोग स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजा को बढ़ावें।" इसमें दो बातों की उपमा दी है। एक, बैल जैसे संयम से रहकर और ऋतुगामी होकर बलवान् सन्तान उत्पन्न करता है, वैसे ही तुम भी संयमी और ऋतुगामी बनकर सन्तान उत्पनान करो। दूसरे, जैसे रोगी और निर्बल बैल से सन्तान पैदा करने का काम नहीं लिया जाता वैसे ही निर्बल और रोगी मनुष्य सन्तान पैदा न करें। इसमें मैथुन के बारे में उपमा नहीं दी। हाँ, यदि यह बात देखनी हो तो महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४, श्लोक २६-२७ में देखें, जहाँ दीर्घतमा ऋषि ने बैल की भाँति, चलती-फिरती स्त्रियों को ही गोधर्म के अनुकूल गाभिन करना आरम्भ कर दिया था। सनातनधर्म की आचरित पद्धति को स्वामी दयानन्द के भाष्य के सिर मढ़ना विचित्र बेईमानी और बेहूदापन है।

७५. पोपजी—यजुर्वेद [९।४८] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि 'हे पिता लोगो! आप हमारे में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य को धारण करो।' तात्पर्य यह कि लड़की अपने बाप से गर्भ करवाने की प्रार्थना करती है, यह जहालत कैसी?

तोपजी—कहीं तो ईमानदारी से कार्य लेकर मूल पाठ उद्धृत कर दिया करो। देखो, यजुर्वेदभाष्य में लिखा है—"हे माता-पिता आदि लोगो! आप हमारे बीच में प्रजा, अन्न, दूध और वीर्य को धारण करो।" इसमें 'माता' शब्द साथ आने से और प्रजा, अन्न, दूध के सहयोग से यहाँ वीर्य नाम शक्ति का है। यदि आपको आग्रह हो कि वीर्य नाम मणि का ही लेना है तो भी माता-पिता तथा 'आदि' से पति का ग्रहण करके 'जो जिससे उचित हो' इस न्याय से अन्न और दूध की माता-पिता से और वीर्य तथा प्रजा की पति से प्रार्थना होना सिद्ध होता है। इससे पिता का पुत्री में गर्भ धारण करना सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यह बात पुराणों में मिल सकती है कि माता, बहिन और पुत्री में पुत्र, भाई और पिता का गर्भ धारण करना वैध है जैसाकि ब्रह्मा ने पुत्री से, विष्णु ने माता से, महादेव ने बहिन से और सूर्य ने भतीजी से, कृष्ण ने मामी से और अर्जुन ने मामा की लड़की से विवाह करके गर्भाधान करने की मूर्खता की थी।

७६. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ५८ पर लिखा है कि 'गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिका रक्खें। पुरुष शरीर ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य-प्राप्ति के समय अपानवायु को ऊपर खींचे तथा योनि-संकोचन करे और वीर्य का आकर्षण कर गर्भाशय में स्थित करे।' यह कोकशास्त्र की विधि किस वेद के आधार पर लिखी गयी है? क्योंकि स्वामीजी तो आर्यसमाज के कथनानुसार सारी आयु ब्रह्मचारी रहे और योग को मानते नहीं थे, फिर बिना किसी उपाय को आचरण में लाये इसका ज्ञान कैसे हुआ? क्या इसमें कहीं किसी स्त्री का हाथ तो नहीं था? और यह कार्य विवाह की पहली रात्रि को ही करना लिखा है, क्या नव-विवाहिता लड़की इस विधि से पूर्व से ही परिचित थी? यदि थी तो कैसे? क्या केवल इस विधि को सिखाने के लिए सत्यार्थप्रकाश कन्या-पाठशालाओं में अनिवार्यरूप से पढ़ाया जाता है? क्या यह व्यभिचार तो नहीं फैलाता?

तोपजी—गर्भाधान एक बड़ा पवित्र कार्य है, जिससे मनुष्य-जैसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी का जन्म होता है। जब साधारण वस्तुओं को बनाने के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है तो मनुष्य का शरीर बनाने के लिए विधि-विधान की शिक्षा की आवश्यकता क्यों न हो? इसलिए इस गर्भाधान-विधि का उपदेश स्वयं परमेश्वर ने यजुर्वेद [१९।८८] में किया। शतपथ [१४।७।५।१०] में, पारस्करगृह्यसूत्र [१।११।५] में, बृहदारण्यक [६।४।९-११,२१] में, चरक शारीरिकस्थान [८।८] में इस गर्भाधान-विधि की पूर्णरूप से शास्त्रों ने व्याख्या की है, जिसे स्वामी दयानन्दजी महाराज ने आवश्यक समझकर सत्यार्थप्रकाश में लिख दिया है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक बात का ज्ञान अपने ही अनुभव से हो, प्रत्युत दूसरों के अनुभव से भी बहुत-सी बातों का ज्ञान मनुष्य को होता है। जैसेकि महर्षि व्यासजी ने भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व अध्याय ५, श्लोक ३० से ४५ तक स्त्रियों की भग और स्तनों की प्रशंसा की है कि जिसकी भग बिना बालों के हो वह राजा की स्त्री बने। जिसकी भग पीपल के पत्ते जैसी हो या कछुए की पीठ जैसी हो या घड़े जैसी हो, वह बहुत उत्तम होती है; और जिसके स्तन मोटे, कठोर और उभरे हुए हों, वे अच्छे होते हैं। और फिर भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय २५, श्लोक १ से २१ तक पुरुषों के लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा की प्रशंसा की है तो क्या आपके विचार में उन्होंने स्त्रियों की भगों, स्तनों और पुरुषों के लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा आदि को टटोलकर और अनुभव करके यह लिखा है? और क्या आपके विचार में इस विषय में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का हाथ है? यदि आप कहें कि व्यासजी ने योग के द्वारा जाना तो क्या पौराणिक ऋषियों का लक्ष्य भग, स्तन, लिङ्ग, अण्डकोश और गुदा ही हैं कि जिनका ध्यान वे योग के द्वारा समाधि में करते रहते हैं? परमात्मा ऐसे योग और योगियों से बचाए।

अब भी लड़के-लड़कियाँ समागम की विधि कहीं से सीखते हैं। यदि युवकों को अध्यापक और लड़कियों को स्त्रियाँ इसके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें बतला भी दें तो इसमें पाप की क्या बात है?

ब्रह्मवैवर्त खण्ड ४, अध्याय १५, श्लोक १३७ से १६० तक कृष्ण ने राधा में गर्भाधान इसी विधि से किया था, तो यहाँ राधा और कृष्ण को किसी ने तो सिखाया होगा। भला! आर्यसमाज में तो कन्या-पाठशालाओं में सत्यार्थप्रकाश के द्वारा गर्भाधान के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें मौखिक बतलाई जाती होंगी, परन्तु सनातनधर्म में तो लड़कियों को क्रियात्मकरूप से मानचित्र दिखाकर यह शिक्षा दी जाती है और शिवालयों में भग में लिङ्ग को स्थापित किया हुआ दिखाकर पूजारि क्रियात्मक शिक्षा देता है तथा जगन्नाथपुरी के मन्दिर में दीवारों पर मानव-आकार की युवा स्त्री और पुरुषों की अनेक प्रकार से मैथुन करती हुई सर्वथा नग्न चित्रों की इसीलिए प्रदर्शनी की गयी है ताकि सनातनधर्म की ललनाएँ कोकशास्त्र की क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त कर सकें।

क्या आपके विचार में स्वामीजी द्वारा वर्णित विधि ग़लत है? तो क्या सनातनधर्मी पीठ से पीठ जोड़कर गर्भाधान करते हैं अथवा शरीर को छूने ही नहीं देते, दूर से ही थोथे बाँस का प्रयोग करके गर्भाधान करते हैं? अन्ततः वह बात कौन-सी है जो आक्षेप के योग्य है? इसलिए होश करो और पुराणों में वर्णित अश्व-आधान, कर्ण-आधान, नाक-आधान, मुख-आधान, गुदा-आधान, मेंढकी-आधान, तोती-आधान, हिरनी-आधान आदि बेहूदा आधानों को छोड़कर विधि और विधान के अनुसार गर्भाधान की आवश्यक शिक्षा के लिए अपनी स्त्रियों और पुत्रियों को आर्यसमाज की कन्या-पाठशाला में भेजा करें तभी आपका कल्याण

हो सकता है, अन्यथा नहीं।

७७. पोपजी—'**विविधानि च रत्नानि**' यह श्लोक स्वामीजी ने मनुस्मृति के नाम से सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ८६ पर लिखा है, परन्तु मनुस्मृति में नहीं है।

तोपजी—इस श्लोक में केवल पाठ का भेद है, अर्थ का भेद नहीं है। स्वामीजी ने लिखा है कि '**विविधानि च रत्नानि**' अर्थात् अनेक प्रकार के रत्न संन्यासियों को देने चाहिएँ, परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति [११।६] में पाठ है कि '**धनानि तु यथाशक्ति**' अपनी शक्ति के अनुसार बहुत-से धन संन्यासियों को देने चाहिएँ। रत्न और धन दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इससे सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता; परन्तु पुराणों में तो मनु के नाम से ऐसी कथाएँ भी आती हैं जिनका नाम व चिह्न भी मनुस्मृति में नहीं है। उदाहरण के रूप में भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ४०, श्लोक २६ में लिखा है—**सप्तव्याधकथा विप्रा मनुना परिकीर्तिता।** अर्थात् हे ब्राह्मणो! मनुजी महाराज ने सात शिकारियों की कथा का वर्णन किया है इसे सुनकर जातिभेद को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे सात शिकारी ब्राह्मण बन गये थे।

स्वामीजी के श्लोकवाले अर्थ का श्लोक तो वर्त्तमान मनुस्मृति में विद्यमान है, परन्तु आप भविष्यपुराण में लिखी हुई 'सप्तव्याध' की कथा मनुस्मृति में दिखाने की कृपा करें। गुजराती प्रेस, बम्बई की छपी मनुस्मृति में सैकड़ों श्लोक ऐसे दिये गये हैं कि जिन्हें दूसरे ग्रन्थों ने मनु के नाम से लिखा है, परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति के संस्करणों में वे श्लोक नहीं हैं। कृपा करके इस गोरखधन्धे को सुलझाने का प्रयत्न करें।

७८. पोपजी—'**रथेन वायुवेगेन जगाम गोकुलं प्रति**' यह श्लोक श्रीमद्भागवत के नाम से सत्यार्थप्रकाश पृ० २१८ पर स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है, परन्तु यह श्लोक श्रीमद्भागवत में नहीं है।

तोपजी—क्यों झूठ बोलते हो? '**रथेन वायुवेगेन**' श्रीमद्भागवत १०।३९।३८ में विद्यमान है तथा '**जगाम**' और '**प्राप्तः**' का अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह कि अक्रूरजी वायु-जैसे वेगवाले रथ पर चढ़कर मथुरा से सूर्योदय के समय चले और सायंकाल गोकुल पहुँचे। इसमें स्वामीजी ने क्या ग़लत लिखा है? परन्तु गरुडपुराण में जो लिखा है कि 'सीता ने दशरथ को श्राद्ध में ब्राह्मणों के साथ भोजन करते देखा'—यह रामायण में कहाँ है?

७९. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ७५ पर स्वामीजी लिखते हैं कि जब पति सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य हो जाए तो अपनी स्त्री को कहे कि तू मेरे सिवा दूसरे पुरुष से नियोग कर ले। क्या यह निर्लज्जता और खुला व्यभिचार नहीं है?

तोपजी—'पति के नपुंसक या असाध्य रोग में ग्रस्त होने पर जवान स्त्री संयम से न रह सकने के कारण पति की आज्ञा से पञ्चायत के विधि-विधान के अनुसार दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर ले'—यह आज्ञा स्वामीजी ने ऋग्वेद [१०।१०।१०] के अनुसार दी है, जिसकी व्याख्या मनुस्मृति [९।१६७] में की गयी है, जिसके अनुसार ही कुन्ती ने पाण्डु के नपुंसक होने पर धर्म, वायु और इन्द्र से नियोग करके युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उत्पन्न किया था। यदि वेद के अनुसार पञ्चायत के विधि-विधानानुसार अपनी पुत्री को सन्तान उत्पन्न करने के लिए दूसरे पुरुष के लिए देना निर्लज्जता और खुला व्यभिचार नहीं तो वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधानानुसार अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष से सन्तान पैदा करने के लिए कहना निर्लज्जता और खुला व्यभिचार कैसे हो सकता है? वरन् महाभारत आदिपर्व अध्याय १२२, श्लोक १९ में तो यदि स्त्री पति की इस बात को

न माने तो उसे पाप लगना लिखा है।[1]

निर्लज्जता और खुला व्यभिचार तो महाभारत आदिपर्व अध्याय १२२, श्लोक ४ से १४ तक लिखा है कि स्त्रियाँ गौओं की भाँति स्वतन्त्र हैं, जो जिससे चाहे मैथुन कर सकती हैं। यह है निर्लज्जता और खुला व्यभिचार, न कि नियोग।

८०. पोपजी—यद्यपि आर्यसमाज में मांस खाना बुरा है, परन्तु आर्यसमाज में मांसपार्टी और घासपार्टी का होना सिद्ध कर रहा है कि आर्यसमाज में मांस खाना उचित है।

तोपजी—आर्यसमाज के सिद्धान्तों में मांस खाना वेदविरुद्ध और पाप है। आर्यसमाज में गुरुकुल और कॉलेज-पार्टी है, परन्तु इनका नाम घासपार्टी और मांसपार्टी पामर लोगों ने ही रक्खा है। इसलिए आर्यसमाज में तो मांस खाना वैध नहीं। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ५, और ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ८५ में भक्ष्य और अभक्ष्य की व्याख्या से सिद्ध है कि सनातनधर्म में गोमांस तक खाना वैध है और आपने स्वयं स्वीकार किया है कि सनातनधर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग हैं, अर्थात् मांसपार्टी और घासपार्टी सनातनधर्म में विद्यमान हैं।

८१. पोपजी—संस्कार-विधि पृष्ठ १२ पर स्वामीजी ने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने पुत्र को विद्वान्, पण्डित और वेदों के जाननेवाला करना चाहे, वह मांस के साथ भात पकाकर खाये और पृष्ठ ४२ पर लिखा है कि अन्न आदि का इच्छुक गोष्फन्द का मांस खाये। आर्यसमाज के लिए यह स्पष्ट विधिवाक्य है, फिर मांस से इन्कार क्यों?

तोपजी—अजमेर यन्त्रालय में मुद्रित आर्यसमाज की प्रामाणिक संस्कार-विधि में ये दोनों ही बातें नहीं हैं। पता नहीं आपको मिथ्या भाषण और मिथ्या लेखन में क्या आनन्द आता है। हाँ, यदि आपका यह तात्पर्य है कि निरस्त की हुई संस्कार-विधि के प्रथम संस्करण में ये बातें हैं, तो भी स्वामीजी के विज्ञापन के अनुसार ये आपके गृह्यसूत्रों की बातें स्वामीजी ने जनता को सावधान करने के लिए लिखी हैं जोकि स्वामीजी को वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं हैं। आर्यसमाज इस संस्कार-विधि को सामूहिकरूप से निरस्त करके अग्नि की भेंट चढ़ा चुका है, अतः हमारे लिए तो यह प्रमाण जूते के तले-जितना भी मूल्य नहीं रखता, परन्तु सनातनधर्म में तो गौ आदि पशुओं की देवताओं और पितरों के निमित्त बलि देकर उनका मांस खाने की आज्ञा है और न खानेवाले को मनुस्मृति [५।३५] में दण्ड का विधान है। ऐसी प्रबल आज्ञा होते हुए सनातनधर्म के इन्कार का क्या कारण है, स्पष्टरूप से लिखें।

८२. पोपजी—यजुर्वेद [१३।४९] के भाष्य में स्वामी दयानन्दजी ने नीलगाय को मारने की स्पष्ट आज्ञा दी है, ऐसा पाप क्यों?

तोपजी—स्वामीजी ने राजा और राजपुरुषों को इस मन्त्र में आज्ञा दी है कि जो पशु प्रजा के लिए उपकारी—गौ, घोड़ा, बकरी, भेड़ आदि हैं, उनकी रक्षा करो और जो मनुष्य उन्हें मारे उसे दण्ड दो; और जो नीलगाय आदि पशु प्रजा की खेती को हानि पहुँचानेवाले हैं, उन्हें राजा और राजपुरुष मारें। इसमें तनिक भी पाप की बात नहीं है। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ५ और ब्रह्मवैवर्तपुराण खण्ड ४, अध्याय ११५, श्लोक १२-१३ में जो गौ आदि निर्दोष पशुओं को यज्ञ और श्राद्ध के बहाने से मारकर खाना लिखा है, वह अवश्य पाप है।

८३. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २८६ पर पशु व मनुष्य को मारना तथा इनके मांस

---

१. **पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च। न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि॥**
यह श्लोक गीताप्रेस संस्करण में नहीं है। १२२वें अध्याय के ४ से १४ श्लोक भी गीताप्रेस संकरण में नहीं हैं।
—जगदीश्वरानन्द

को मांसाहारी मनुष्य को खिलाने की आज्ञा स्पष्ट बतला रही है कि आर्यसमाज में मांस खाना वैध है।

तोपजी—यहाँ पर स्वामीजी ने राजा और राजपुरुषों को आज्ञा दी है कि वे प्रजा को हानि पहुँचानेवाले पशुओं और मनुष्यों को भी मारें। यदि कोई मांसाहारी मनुष्य उनका मांस खाए तो संसार की कोई हानि नहीं, परन्तु उस मनुष्य का स्वभाव बिगड़कर हिंसक हो सकता है और भविष्य में वह जीवित प्राणियों को भी मारकर खाने लगेगा, अतः मरे हुए पशुओं का मांस भी नहीं खाना चाहिए। स्वामीजी के इस तात्पर्य को न समझकर अन्य प्रकार से वर्णन करना महा पामरपन है। हाँ, मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक २६८ से २७० तक में श्राद्ध में विभिन्न पशुओं का मांस खाना लिखा है।

८४. पोपजी—आर्याभिविनय पृष्ठ ३३ पर लिखा है कि 'हे परमेश्वर! हमारा वध मत कर और हमारे प्यारे भोगों को मत चुरा और न किसी से चुरवा तथा हमारे गर्भ को मत गिरा।' कहिए साहब! आपका ईश्वर तो कातिल, चोर, चोरी करानेवाला, प्रत्युत गर्भ तक गिरानेवाला सिद्ध हो रहा है, तो क्या ऐसे गुणोंवाला ईश्वर कहला सकता है? और क्या आर्यसमाजी पुरुषों को भी गर्भ होता है, जिसके न गिरने की प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है।

तोपजी—इस मन्त्र का पूरा अर्थ न देकर आपने मिथ्या भाषण से काम लिया है। इस मन्त्र के अन्त में स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो।' इस वाक्य को सबके साथ मिलाकर अर्थ करें। हे ईश्वर! हमारा वध मत करो अर्थात् हमारी यथावत् रक्षा करो। हमारे प्यारे भोगों को मत चुरा और न किसी से चुरवा, अर्थात् हमारे प्यारे भोगों की यथावत् रक्षा करो (यहाँ चुराने का अर्थ पृथक् करना है अर्थात् हमारे प्यारे भोगों को हमसे पृथक् न करो और न किसी से पृथक् करवाओ) तथा हमारे गर्भ को मत गिरा अर्थात् हमारे गर्भ की यथावत् रक्षा करो। इसलिए ईश्वर पर कातिल, चोर और गर्भ गिरानेवाला दोष तो सर्वथा ग़लत सिद्ध हो गया।'

रह गया आर्यसमाजी पुरुषों को गर्भ रहने का उपहास! यह बिल्कुल मूर्खता की बात है। प्रथम तो यह प्रार्थना पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए है। दूसरे, जैसे कोई कहे कि 'मिश्रजी के पुत्र उत्पन्न होनेवाला है' तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि मिश्रजी के गर्भ है। अपितु इसका अर्थ यही है कि मिश्रजी की स्त्री गर्भवती है। यहाँ पर स्वामी और स्व का सम्बन्ध है। हाँ, सनातनधर्म में पुरुषों को भी गर्भ होना सम्भव है। भागवतपुराण [९।६।२५-३२] में लिखा है कि राजा युवनाश्व को गर्भ हो गया और उससे राजा मान्धाता पैदा हुआ; और गर्भ गिराना तो सनातनधर्म का पैतृक व्यवसाय है, इसलिए भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व ३, खण्ड ४, अध्याय १७, श्लोक ११ से १४ में लिखा है कि इन्द्र ने दिति के गर्भ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इसलिए सनातनधर्मी अब भी विधवाओं का गर्भ गिराना पाप नहीं समझते। इसलिए यह प्रार्थना इन्हें अच्छी नहीं लगती।

८५. पोपजी—'आर्याभिविनय' पृष्ठ ३७ पर तैत्तिरीयारण्यक-मन्त्र के अर्थ में स्वामीजी लिखते हैं कि 'हे ईश्वर! आप और हम आपस में भोग करें'—इसका क्या अर्थ है?

तोपजी—आपने पुस्तक का पाठ अशुद्ध लिखा है। मूल पाठ यूँ है—'आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें। हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें कि आप हमको अपने अनन्त परमानन्द का भागी करें, उस आनन्द से हम लोगों को क्षणभर भी अलग न रक्खें।'

कैसा स्पष्ट लेख है जिसका अर्थ स्पष्ट है कि हे ईश्वर! आप तो परमानन्द-स्वरूप हैं ही, हम भी आपके साथ परमानन्द भोगें। इसमें आक्षेप की कौन-सी बात है? इसमें से

भोग आपको कहाँ से दृष्टिगोचर होने लगा? ठीक है, आपको अपने ईश्वर कृष्ण का अर्जुन से भोग स्मरण आ गया होगा, तभी यह भ्रम उत्पन्न हो गया।

८६. **पोपजी**—आर्यसमाज में मुसलमान और चमार स्त्रियों को शुद्ध करके तो तुरन्त ही किसी आर्यसमाजी से उनका विवाह कर देते हैं, परन्तु शुद्ध हुए पुरुष को कोई आर्यसमाजी अपनी लड़की नहीं देता। क्या उसकी शुद्धि में कोई अन्तर रह जाता है? आज तक कितने आर्यसमाजियों ने शुद्ध हुए मुसलमान और चमारों को लड़कियाँ दी हैं? यदि नहीं तो यह इन्द्रजाल कैसा?

तोपजी—मुसलमान, ईसाई, चमार, भङ्गी आदि जो भी शुद्ध होकर आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जाता है आर्यसमाज उसके साथ समानता का व्यवहार करता है, उनकी लड़कियाँ लेता भी है और उन्हें लड़कियाँ देता भी है। दिल्ली, लाहौर, आगरा, सोनीपत, भरतपुर, सिकन्दराबाद के प्रदेशों में इस प्रकार के सैकड़ों विवाह हुए हैं जिनमें लड़कियाँ ली भी गयी हैं और दी भी गयी हैं। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो लाहौर में जात-पात तोड़क मण्डल के कार्यालय में आकर इन विवाहों की सूची का रजिस्टर देख लें, परन्तु एक मिनट के लिए आपकी बात ही मान लें, तो भी हमारी इस कमी को सनातनधर्म पूरी कर देता है, क्योंकि वह मुसलमान, ईसाई, भङ्गी, चमारों को लड़कियाँ देता ही देता है, इनकी लड़कियों को लेता नहीं है। आवश्यकता हो तो इस प्रकार की सूची प्रस्तुत की जा सकती है कि सनातनधर्म ने कितनी लड़कियाँ मुसलमान, ईसाई, चमार और भङ्गियों को दीं।

८७. **पोपजी**—सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने सब मतों की निन्दा करते हुए सब मतों के पूर्वजों को गालियाँ दी हैं। क्या सबको गाली देनेवाला मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है? और फिर सब मतों को झूठा बतानेवाले का अपना मत कहाँ तक सच्चा गिना जा सकता है?

तोपजी—मत या सम्प्रदाय उसे कहते हैं जो मनुष्य के चलाये हुए हों और धर्म वह है जो परमात्मा द्वारा उपदिष्ट किया हुआ हो। इसलिए ईश्वरोक्त धर्म की तुलना में मनुष्यकृत मत सब झूठे और दोषयुक्त होते हैं। किसी मत या मत के संस्थापक की आलोचना करना निन्दा या गाली देना नहीं कहा जा सकता। मनुष्य कहते ही उसे हैं जो झूठी बातों का खण्डन करके सच्ची बातों को स्वीकार करे। जो व्यक्ति बुद्धि को ताला लगाकर सच्ची-झूठी सब बातों को बिना विचारे मान ले, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं, वह गधा है; और धर्म को वही जानता है, जो युक्ति और तर्क से परीक्षा करके किसी सिद्धान्त या धर्म को स्वीकार करता है, अतः स्वामीजी का वैदिक धर्म सच्चा और स्वामीजी मनुष्य कहलाने योग्य हैं। पौराणिक मत झूठा और उसके माननेवाले सब बोझ ढोनेवाले गधे हैं।

८८. **पोपजी**—आर्यसमाजी ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं, तो क्या वह गर्भ और वीर्य में है या नहीं? यदि कहो कि है तो ईश्वर गर्भ में आ गया। यदि गर्भ और वीर्य में नहीं है तो वह सर्वव्यापक कैसे?

तोपजी—ईश्वर सर्वव्यापक है। वह गर्भ और वीर्य के अन्दर और बाहर सर्वत्र व्यापक है, अतः उसके लिए किसी स्थान पर आने और जाने, प्रविष्ट होने और निकलने का शब्द प्रयोग करना मूर्खता है। आपके विचार में जब ईश्वर सब गर्भों में विद्यमान है तो फिर सारे ही मनुष्य अवतार हो गये, फिर राम-कृष्ण आदि अवतारों में क्या विशेषता रही?

८९. **पोपजी**—आर्यसमाजी हवन में कस्तूरी आदि डालने का प्रमाण किस वेद में है?

तोपजी—यजुर्वेद [१।३] में वायु को पवित्र अर्थात् सुगन्धित, रोगरहित, शक्तिदायक

और शुद्ध करने की आज्ञा है, इसलिए आर्यसमाजी इस वेद की आज्ञा के अनुसार कस्तूरी आदि सुगन्धित और घी आदि शक्तिदायक तथा गिलोय आदि रोगनाशक वस्तुओं का हवन करके वायु को पवित्र करते हैं। आप कोई ऐसा मन्त्र प्रस्तुत करें जिसमें कस्तूरी आदि वस्तुओं का हवन में डालने का निषेध हो। आपको कस्तूरी डालने पर तो आपत्ति होने लगी, परन्तु आप पौराणिक यज्ञों में गौ, घोड़ा, बकरी और मनुष्य को मारकर हवन करने की विधि मानते हैं, इसमें कौन-से वेदमन्त्र प्रमाण हैं और क्या इनके मांस के हवन से सुगन्धि उत्पन्न होती है? यदि नहीं तो कस्तूरी पर आपत्ति क्यों?

९०. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास दस में स्वामी दयानन्दजी ने स्पष्ट लिका है कि चाण्डाल अथवा नीच लोगों के हाथ का बना हुआ खाना नहीं खाना चाहिए, तो आर्यसमाज का छूतछात के विरुद्ध आन्दोलन करना कहाँ तक उचित है?

तोपजी—स्वामीजी की दृष्टि में चाण्डाल और नीच वह है जो शराब पीता हो, मांस खाता हो और वेश्यागमन करता हो, वह चाहे ब्राह्मण के घर पैदा हुआ हो, चाहे भङ्गी के घर पैदा हुआ हो। जो व्यक्ति शराब न पीता हो, मांस न खाता हो, शुद्धता से रहे, उसके हाथ का खाने में कोई दोष नहीं। आर्यसमाज चूँकि गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णाश्रम मानता है, अत: आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि उठने-बैठने में मापक स्वच्छता है। जो पवित्रता से रहे उसके साथ उठने-बैठने में कोई घृणा मत करो। जो गन्दा रहे उससे घृणा करो। खाने-पीने में सिद्धान्त सदाचार है। जो शराब न पीता हो, मांस न खाता हो, सदाचारी हो, स्वच्छता से भोजन बनाए, उसके हाथ का खा लेना चाहिए और रिश्ते-नाते में मापक गुण-कर्म-स्वभाव है। जिस लड़के-लड़की की अवस्था ठीक, अर्थात् कम-से-कम पच्चीस और सोलह वर्ष की हो, स्वस्थ हों, सदाचारी हों, लड़का कमानेवाला हो, लड़की गृहकार्यों में दक्ष हो, पढ़े-लिखे हों, उनका परस्पर विवाह होना चाहिए, क्योंकि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था मानता है, अत: जात-पात-मूलक छूतछात के विरुद्ध आन्दोलन करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है, परन्तु सनातनधर्मी जब गङ्गा-स्नान और ठाकुरजी के चरणामृत से पापों का दूर होना मानते हैं, तो फिर गङ्गा-स्नान के पश्चात् सनातनधर्म का किसी से छूतछात करना कहाँ तक उचित है? और सनातनधर्म अछूतों को ठाकुरजी का चरणामृत देकर पवित्र क्यों नहीं कर लेता? क्या कलियुग में गङ्गा और चरणामृत में इतनी शक्ति भी नहीं रही?

९१. पोपजी—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ग्यारह में लिखा है कि वेदों में ईश्वर के बुलाने के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं है, परन्तु स्वामीजी स्वयं ही 'आर्याभिविनय' में ऋग्वेद १।१।३।१[१] से ईश्वर को बुलाकर सोमरस पिलाते हैं, क्या यह भङ्ग की तरङ्ग में तो नहीं लिखा गया?

तोपजी—आप जितना भी लिखते हैं, सचाई से एक प्रश्न भी नहीं करते। छल-कपट और धोखे से स्वामीजी के लेख को आधा लिखकर प्रश्न करते हैं, जिसकी पोल सारा लेख पढ़ते ही तुरन्त खुल जाती है। इस प्रश्न में ही देख लीजिए। बुलाने के दो अर्थ हैं। एक तो ईश्वर को पहले किसी स्थान पर उपस्थित न समझकर बुलाना और फिर भेज देना, जैसाकि पूजारि लोग मूर्त्तियों में ईश्वर का आवाहन करते हैं और फिर उसका विसर्जन कर देते हैं। इसपर स्वामीजी आक्षेप करते हैं कि मूर्त्तियों में जब ईश्वर व्यापक है तो उसका आना और जाना कैसे हो सकता है? इसी बात को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने लिखा है

१. सरल पता है १।२।१ अर्थात् मण्डल १, सूक्त २, मन्त्र १।

कि "वेदों में पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी इस स्थान पर मूर्त्ति और मूर्त्ति में ईश्वर के आवाहन और विसर्जन को वेद के विरुद्ध बतला रहे हैं। दूसरे, बुलाने का अर्थ है सम्बोधित करना, जैसे हम प्रार्थना में ईश्वर को सम्बोधित करते हैं। बस, 'आर्याभिविनय' के मन्त्र में भी ईश्वर को सम्बोधित करके प्रार्थना की गयी है, न कि उसके बुलाने और भेजने की चर्चा है, अतः आपकी उपर्युक्त कल्पना निराधार और ग़लत है।

प्रिय पाठक महाशय! हमने पोपजी के कपोलकल्पित, बनावटी, ग़लत और बेहूदा प्रश्नों का संक्षिप्तरूप से उत्तर दे दिया है। हम आशा करते हैं कि पाठक महाशय इन प्रश्नों की शैली और पद्धति को सम्यक् प्रकार से समझकर, पौराणिक पोपमण्डल की चालों से अच्छी प्रकार परिचित होकर कभी भी इन लोगों की ठगी और चालाकी के जाल में न फँसेंगे और स्वामीजी के मूल ग्रन्थों का स्वाध्याय करके अपनी आत्मा को पवित्र करेंगे।

सनातनधर्म की अर्थी

ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० २५।१३

अर्थ—जो परमात्मा आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल का देनेवाला है, जिस परमात्मा के शासन को सब विद्वान् लोग मानते हैं, जिस परमात्मा का आश्रय लेना ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है और जिसका आश्रय न लेना ही मृत्यु का कारण है, उस सुखस्वरूप परमात्मा की हम श्रद्धा और भक्ति से उपासना किया करें।

वेद का कैसा सुन्दर उपदेश है! उस परमात्मा का आश्रय लेना, अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करना ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है और उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलना ही मृत्यु है। उसकी आज्ञा का नाम ही धर्म और उसके निषेध का नाम ही पाप है। परमात्मा स्वयं सत्यस्वरूप हैं, अतः सत्य का मानना, सत्य का बोलना और सत्य का ही आचरण करना धर्म है; और झूठ का मानना, झूठ का बोलना तथा झूठ का आचरण करना ही पाप है। इसीलिए तो शास्त्र कहते हैं कि—

नहि सत्यात् परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्॥

अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है।

इसीलिए महात्मा लोग कहते हैं कि सत्य ही जीवन और झूठ ही मृत्यु है। जिस व्यक्ति ने या जिस समाज ने या जिस देश ने सत्य को छोड़कर झूठ का पल्ला पकड़ लिया है, समझ लो कि क्रियात्मक रूप से उसकी मृत्यु हो चुकी है। आज पौराणिक पोपमण्डल अर्थात् सनातनधर्म पूर्णरूप से सत्य को छोड़कर सर्वथा झूठ के सहारे पर दिन पूरे कर रहा है, अतः हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि पौराणिक पोपमण्डल अर्थात् सनातनधर्म की मृत्यु हो चुकी है और इस मृत्यु का होना अवश्यम्भावी भी था, क्योंकि काठ की हँडिया कब तक चूल्हे पर सुरक्षित रह सकती थी! प्रमाण के रूप में 'सनातनधर्म विजय' नामक पुस्तक हमारे समक्ष है। इस पुस्तक के जिस भाग का सम्बन्ध वेद, शास्त्र और पुराणों के साथ है, इसमें सैकड़ों प्रमाण सर्वथा ग़लत लिखे हैं और जनता को छल-कपट और मिथ्या लेखन से धोखा देने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक के जिस भाग का सम्बन्ध ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के साथ है और उनके आधार पर जितने भी प्रश्न आर्यसमाज पर किये गये हैं, एक में भी ईमानदारी से काम लेकर ऋषि दयानन्दजी के आशय को ठीक-ठीक

प्रस्तुत करके आक्षेप नहीं किया गया। पुस्तक के इन भागों से ही सनातनधर्म की मौत के प्रमाण प्रकट थे कि ''आर्यसमाज के विरुद्ध लिखित निर्णय'' और ''शास्त्रार्थों में आर्यसमाज की पराजयों के नमूने'' वाले भागों और न्याय से दूर, बेहदा, झूठे और बनावटी लेखों ने तो पौराणिक पोपमण्डल के सनातनधर्म की अर्थी ही निकाल दी है।

इस भाग में आरम्भ में 'सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध न्यायालय का निर्णय' के शीर्षक से पेशावर के न्यायालय का वह निर्णय अङ्कित किया गया है जिसके सम्बन्ध में हम नियोग प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं। इस निर्णय को प्राप्त करने में सनातनधर्म ने पूरे छल-कपट से काम लिया है। वह इस प्रकार कि—

१. एक कट्टर सनातनधर्मी को आर्यसमाज का सदस्य बनाया गया और दूसरे सनातनधर्मी ने सनातनधर्मसभा में सत्यार्थप्रकाश पर अश्लील टीका-टिप्पणी की। पहले व्यक्ति ने न्यायालय में दावा कर दिया। जब प्रतिवादी के वकील ने वादी के साथ प्रश्नोत्तर किये तो वादी ने प्रतिवादी की इच्छा के अनुसार सब बातों को स्वीकार कर लिया। जब वादी ने ही सारी बातें प्रतिवादी के पक्ष में स्वीकार कर लीं, तब वादी का दावा खारिज होना अवश्यम्भावी था। जब इस मक्कारी और धोखे का आर्यसमाज को पता लगा तो आर्यसमाज ने सेशन में अपील की, परन्तु अपील में किन्हीं नये साक्षियों की साक्षी तो होनी नहीं होती, केवल मिसल में लिखी हुई सामग्री के आधार पर ही निर्णय होता है, अतः अपील खारिज हो गयी। यदि आर्यसमाज चाहता तो हाईकोर्ट में अपील करके इस निर्णय को निरस्त करवा सकता था, परन्तु आर्य प्रतिनिधिसभा पञ्जाब ने परामर्श दिया कि इस प्रकार के निर्णय धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में कोई प्रभाव नहीं रखते, अतः इसकी अपील में समय और धन व्यय करना व्यर्थ है।

यह है वह निर्णय जिसे पौराणिक पोपमण्डल गीदड़ के परवाने (आदेश-पत्र) की भाँति उठाये फिरता है और प्रत्येक स्थान पर शेख़ी से प्रस्तुत करने की मूर्खता करता है। अब इसपर पाठक तनिक मस्तिष्क लगाकर विचार करें—

क्योंकि वर्त्तमान राज्य वैदिक राज्य नहीं है, इसलिए इसका विधि-विधान भी वेदानुकूल न होकर वेद के विरुद्ध है। प्रमाण के लिए अवलोकन कीजिए—

(क) मद्यपान—मद्यपान वेद के विरुद्ध है, परन्तु वर्त्तमान राज्य में मद्यपान कोई अपराध नहीं है, अपितु सरकार शराब के ठेके नीलाम करके इसकी आय से देश में शिक्षा का प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार भङ्ग, अफीम, सुल्फ़ा, गाँजा आदि-आदि का सेवन कोई अपराध नहीं है, अतः यह विधि-विधान वेदविरुद्ध है।

(ख) मांस-भक्षण—मांस खाना वेदविरुद्ध है, परन्तु वर्त्तमान राज्य में मांस-भक्षण कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य बूचड़खानों और नगर में दुकानों के लिए लाइसैंस देती है, इसलिए यह कानून वेद के विरुद्ध है।

(ग) वेश्यागमन—वेश्यागमन वेद के विरुद्ध है और वर्त्तमान सरकार के कानून में वेश्यागमन कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य वेश्याओं को पेशा करने के लिए प्रमाण-पत्र देता है, अतः वर्त्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है।

(घ) व्यभिचार—व्यभिचार करना वेद के विरुद्ध है और वर्त्तमान विधि-विधान बालिग़ (वयःप्राप्त) कुमारी और विधवा स्त्री के साथ उनकी सहमति से मैथुन करने को व्यभिचार स्वीकार नहीं करता, अतः वर्त्तमान कानून वेद के विरुद्ध है।

(ङ) गो-वध—गो-वध वेद के विरुद्ध है और वर्त्तमान सरकार के कानून में गो-वध

कोई अपराध नहीं है, प्रत्युत राज्य स्थान-स्थान पर गो-वध के लिए बूचड़खाने स्थापित करने में सहायता करता है, इसलिए वर्त्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है।

चूँकि वर्त्तमान विधि-विधान वेद के विरुद्ध है, इसलिए वह स्मृति का गौरवपूर्ण पद नहीं रखता जैसाकि—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमो निष्ठा हि ताः स्मृताः॥ ९५॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६॥

—मनु० १२।९५-९६

अर्थ—जो वेद के विरुद्ध कानून हैं और जो अनुचित विधि-विधान है, वे सब-के-सब व्यर्थ हैं, क्योंकि वे अज्ञान का परिणाम हैं॥९५॥ ऐसे कानून बनते हैं और बिगड़ते हैं। वेद के अतिरिक्त और कोई भी कानून नये होने के कारण व्यर्थ और झूठे हैं॥९६॥

अतः वर्त्तमान विधि-विधान धर्म-अधर्म के निर्णय में कोई प्रभाव नहीं रखता, क्योंकि वर्त्तमान न्यायालय वर्त्तमान विधि-विधान के अधीन हैं, अतः वे न्यायालय अवैदिक हैं, जैसाकि—

ऋग्वेदविद्यजुर्वेदविच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

—मनु० १२.११२

अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जाननेवाले तीन विद्वानों की परिषद् धर्म के सम्बन्ध में सन्देहों का निर्णय करने के लिए होनी चाहिए।

इससे सिद्ध है कि वर्त्तमान न्यायालय धर्म-अधर्म का निर्णय करने का अधिकार नहीं रखते, अतः वर्त्तमान कानून के अधीन चलनेवाले न्यायालयों के निर्णय धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में कोई प्रभाव नहीं रखते।

इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि पेशावर न्यायालय का सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में दिया गया निर्णय सत्यार्थप्रकाश पर तनिक भी प्रभावी नहीं हो सकता, वह व्यर्थ और झूठा है।

यदि आप वर्त्तमान विधि-विधान और उसके अधीन कार्यरत न्यायालयों के निर्णयों को भी धर्म-अधर्म के लिए कसौटी मानते हैं तो फिर पौराणिक पोपमण्डल के सनातनधर्म का तो मनीआर्डर ही हो जाएगा, क्योंकि बाल-अवस्था के विवाह, सती होना, विधवा-विवाह न करना, छूतछात तो सनातनधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं, परन्तु वर्त्तमान कानून में इनके विरुद्ध निर्णय ही नहीं अपितु एक्ट [Act] बने हुए हैं।

शारदा एक्ट—बाल्यावस्था में विवाह करना अपराध है और इस कानून के अन्तर्गत दण्ड-प्राप्त—दण्डित किये गये बाल्यावस्था में विवाह करनेवालों के सैकड़ों निर्णय अङ्कित किये जा सकते हैं।

सती प्रथा—सती होना अपराध है। इस कानून के अधीन सहस्रों व्यक्ति दण्डित हो चुके हैं, जिनके निर्णय यहाँ लिखे जा सकते हैं।

छूतछात—कानून की दृष्टि से अपराध है और अछूतों को कुएँ पर पानी भरने के अधिकार के अनेक निर्णय विद्यमान हैं, जो यहाँ दिये जा सकते हैं।

विधवा-विवाह एक्ट—पास हो चुका है और इसके अधीन सैकड़ों नहीं सहस्रों विधवा-विवाह हो चुके हैं, जिनकी सन्तान वैध ठहराई जा चुकी है और विधवा-विवाह का विरोध करनेवालों को कितने ही स्थानों पर दण्डित भी किया जा चुका है। विधवा-

विवाह के पक्ष में अनेक निर्णय यहाँ दिये जा सकते हैं।

मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्यागमन, गोवध आदि के पक्ष में न्यायालयों के सैकड़ों निर्णय भी यहाँ अङ्कित किये जा सकते हैं और बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि के विरुद्ध भी सकड़ों निर्णय यहाँ लिखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त खन्ना के कुएँ के सम्बन्ध में हाईकोर्ट का और भटिण्डा के कुएँ के सम्बन्ध में नाज़िम साहब [व्यवस्थापक] बरनाला का निर्णय अछूतों को सरकारी कुओं से पानी लेने के पक्ष में अङ्कित किया जा सकता है।

'सद्धर्म प्रचारक' पर प्रथम लाइबल केस [Libel case, मानहानि का मुकद्दमा] जिसमें सनातनधर्म के चोटी के नेता पं० गोपीनाथ पर वेश्यागमन और गोमांस खाने का अपराध सिद्ध होकर मुकद्दमा खारिज हुआ और काशी का समुद्र-यात्रा का मुकद्दमा जिसमें पौराणिक पोपमण्डल के सरदार पं० शिवकुमार शास्त्री की और पुराणों की दुर्दशा होकर अपराधियों के दण्डित होने के निर्णय भी लिखे जा सकते हैं, परन्तु पुस्तक का कलेवर बढ़ जाने के भय से उन्हें यहाँ अङ्कित नहीं किया जाता।

प्रश्न तो यह है कि क्या पौराणिक पोपमण्डल वर्त्तमान विधि-विधान और उसके अधीन होनेवाले निर्णयों को धर्म-अधर्म में कसौटी मानकर विधवा-विवाह, मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्या-गमन और गोवध को धर्म के अनुकूल मानकर उनपर आचरण करने के लिए तैयार है? और क्या बाल्यावस्था का विवाह, सती-प्रथा, छूतछात को तिलाञ्जली देने और समुद्र-यात्रा की आज्ञा देने को तैयार है? यदि नहीं तो फिर वर्त्तमान कानून के अन्तर्गत पेशावर के न्यायालय का निर्णय सत्यार्थप्रकाश पर प्रभावी कैसे हो सकता है?

यद्यपि हमने विस्तार के साथ सिद्ध कर दिया है कि इस प्रकार के लेख और निर्णय धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में कोई मूल्य नहीं रखते, परन्तु क्योंकि पौराणिक पोपमण्डल 'चूहे को हल्दी की गाँठ मिलने पर पंसारी बन जाने' की उक्ति चरितार्थ करते हुए इस निर्णय को अमूल्य निधि समझता है, अतः हम भी सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में एक लेख 'प्रकाश' लाहौर के ऋषि-अङ्क १८ अक्तूबर १९२५ से उद्धृत कर देते हैं—

श्रीयुत टी०वी० शेषागिरी अय्यर, जज हाईकोर्ट मद्रास की ओर से

"सनातनधर्म का रहस्य समझने के लिए वेद और केवल वेद ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं और जाति की धार्मिक उमंगों और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वेदों का अध्ययन ही पर्याप्त है। इस स्थिति में बिना किसी अत्युक्ति और बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश हमारी पुरानी सभ्यता की कुञ्जी है। मैं स्पष्ट और खुले शब्दों में स्वीकार करता हूँ कि मैं मूर्त्तिपूजक हूँ और स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा का जो खण्डन किया है, उससे मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु यह मतभेद मुझे हृदय से स्वामीजी के महान् कार्य की प्रशंसा करने से नहीं रोकता।

मैं उन्हें परमात्मा के उन अवतारों में स्थान देता हूँ, जो समय-समय पर हिन्दूधर्म की अपवित्रताओं को दूर करने के लिए प्रकट होते रहे हैं। चूँकि स्वामी दयानन्द का एकमात्र उद्देश्य वेद-उपदेश के गौरव और महत्त्व का झण्डा ऊँचा करना था, अतः आप अवतारों के समूह में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जिस युग में स्वामीजी का ज्योतिर्मय आविर्भाव हुआ, उस युग में हिन्दूधर्म में बहुत-से दोष उत्पन्न हो चुके थे। फलस्वरूप वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि की ओर से किये गये मुकद्दमे में जो रहस्य प्रकट हुए थे और जिन लोगों ने उन वृत्तान्तों को पढ़ा है, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि पुराणों की घटनाओं से अनुचित लाभ उठाकर कितने अश्लील और घिनौने काम किये जाते थे और अन्धविश्वासों में फँसने के कारण देश की क्या अवस्था हो रही थी।

ठीक ऐसे समय पर स्वामी दयानन्द ने अज्ञान और अन्धकार के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और ऋषियों की कीर्ति और गौरव की रक्षा के लिए आप कार्यक्षेत्र में उतरे। इस उच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उन्हें वास्तविक रूप में यह घोषणा करनी पड़ी कि धर्म का रहस्य रामायण की कहानियों अथवा पुराणों में उपलब्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत वेदों के पवित्र मन्त्रों में ही मिल सकता है। केवल इतना ही नहीं, उन्हें संसार को यह भी दिखलाना पड़ा कि जो लोग ऋषियों के शुद्ध और पवित्र हिन्दूधर्म पर आक्षेप करते हैं, स्वयं उनके सम्प्रदाय कितने तर्क व युक्तिशून्य और दोषों से परिपूर्ण हैं।

प्रत्येक अवस्था में यदि अन्य कोई उचित और टिकाऊ प्रबन्ध शीघ्र न हो तो यह प्रसन्नता प्रदान करनेवाली बात है कि इस प्रशंसनीय और अध्ययन करने योग्य पुस्तक सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद इस प्रान्त की मातृभाषा में हो गया है।''

अन्त में यह बतला देना भी अत्यन्त आवश्यक है कि पेशावर के दोनों निर्णयों में मजिस्ट्रेट और सेशन जज ने निष्पक्ष होकर निर्णय नहीं लिखे जैसाकि उनके वाक्यों 'दयानन्द के सिद्धान्त इस प्रकार के हैं कि वे हिन्दुओं और अन्य सम्प्रदायवालों के रूप और शिष्टाचार—सिद्धान्त और आचार की तीव्र आलोचना करते हैं' से स्पष्ट सिद्ध होता है कि निर्णय लिखते समय सत्यार्थप्रकाश में किये गये इस्लाम और ईसाइयत के खण्डन का विचार उनके हृदय में अवश्य था, इसलिए दोनों महानुभावों ने सनातनधर्म की आड़ में सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध ईर्ष्या-द्वेष के कारण बदला लेने का प्रयत्न किया है और उन्होंने नियोग-जैसी पवित्र रस्म को अश्लील और व्यभिचार लिखते हुए तनिक भी न्यायप्रियता से कार्य नहीं लिया।

यदि वे पक्षपात छोड़कर तनिक भी न्यायप्रियता से अश्लीलता और व्यभिचार की परिभाषा पर विचार करते तो उन्हें पता लग जाता कि वर्त्तमान युग में अश्लीलता और दुराचार की यही परिभाषा हो सकती है कि 'जो सम्प्रदाय जिस पुस्तक को ईश्वरीय ज्ञान मानता है, उसके अनुसार पञ्चायत के विधि-विधान से स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध किया जाता है, उसका नाम वैध सम्बन्ध है। वह पवित्र और सभ्य प्रथा है' और ''उसके विरुद्ध स्त्री-पुरुष के गुप्त सम्बन्ध व्यभिचार और अश्लीलता में सम्मिलित हैं।'' जब नियोग को वेदानुकूल पञ्चायत के विधि-विधानानुसार आचरण में लाना सत्यार्थप्रकाश में लिखा गया है तो इसे व्यभिचार और अश्लील कैसे कहा जा सकता है?

और यदि किसी सम्प्रदाय को उसकी अपनी ईश्वरीय पुस्तक के गज़ [तीन फुट का मापक] से नहीं अपितु दूसरे मत की ईश्वरीय पुस्तक से नापना अभीष्ट हो तो सब मतों और सम्प्रदायों में एक-दूसरे के दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लीलता की प्रथाएँ विद्यमान हैं। उदाहरण के रूप में यदि इस्लाम को वेद के गज़=मापक से नापा जाए तो चाचा, मामा, मासी और बुआ की लकड़ी, चाची, मामी, दादी और ले-पालक[१] की पत्नी से विवाह—ये सब विवाह वेद के दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लील प्रथाओं में सम्मिलित हैं तथा इस्लाम का हलाला और मताअ जिसमें कि पति के जीवित रहते हुए उसका दूसरे पुरुष से सम्भोग करना आवश्यक है। मताअ के अधीन तो कुछ पैसों के बदले कुछ घण्टे के लिए भी अस्थायी रूप से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध पति-पत्नी का सम्बन्ध माना गया है, वैदिक दृष्टिकोण से यह सब व्यभिचार और अश्लीलता है।

इसी प्रकार ईसायत की प्रथाओं को भी वैदिक दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लील

१. गोद लिया हुआ लड़का, दत्तक पुत्र। —सम्पादक

ठहराया जा सकता है। उदाहरण के रूप में ईसाइयों का बिना पिता के कुँवारी मरियम के पेट से हज़रत ईसा की उत्पत्ति का मानना ही वैदिक दृष्टिकोण से व्यभिचार और अश्लीलता है। हज़रत नूह का शराब पीकर नङ्गे नाचने और हज़रत लूत का शराब पीकर अपनी लड़कियों से सम्भोग करने की कथाओं का तो कहना ही क्या है? यदि ये सारी प्रथाएँ कुरआन और बाइबिल के अनुसार होने से वैध हैं, व्यभिचार और अश्लीलता में सम्मिलित नहीं तो फिर वेदानुकूल नियोग की प्रथा को व्यभिचार और अश्लील लिखना मजिस्ट्रेट और जज साहब दोनों के पक्षपात का प्रकट प्रमाण है। उन्होंने ईमानदारी से न्याय की कुर्सी को शोभा प्रदान नहीं की।

परिणाम—इस सारे विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वर्त्तमान राज्य चूँकि वैदिक नहीं है, अतः इसका विधि-विधान और इसके अधीन चलनेवाले न्यायालय भी वेदानुकूल नहीं हैं, अतः वर्त्तमान विधि-विधान और उनके अन्तर्गत कार्य करनेवाले न्यायालयों के निर्णय धर्म-अधर्म का निर्णय करने में कसौटी नहीं माने जा सकते, प्रत्युत धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में वेद, उसके अनुकूल स्मृति तथा उनके अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय ही कसौटी माने जा सकते हैं, जैसेकि—

वेद—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्॥ —अथर्व० ९।५।२७

अर्थ—जो स्त्री पहले पति को प्राप्त होकर उसके पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त करती है।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्॥ —ऋ० १०।४०।२

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥ —निरुक्त ३।३।१५

अर्थ—जैसे विधवा देवर के साथ एक ही पलङ्ग पर सोती है।

देवर उसे कहते हैं जो विधवा का दूसरा पति होता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वेद नियोग की आज्ञा देते हैं।

वैदिक विधान अर्थात् स्मृति—

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद् बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥
अनियुक्ता सुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्। उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ॥ १४३॥

—मनु० ९.१४५, १४३

अर्थ—नियोग करनेवाली स्त्री में उत्पन्न हुआ पुत्र वैसे ही सम्पत्ति का स्वामी होता है जैसाकि विवाहिता में उत्पन्न हुआ पुत्र, क्योंकि वह खेतवाले का ही बीज माना जाता है और धर्म से पैदा हुआ है॥१४५॥

किसी स्त्री ने बिना नियोग के पुत्र उत्पन्न किया हो अथवा पुत्रवाली ने नियम के विरुद्ध देवर से पुत्र उत्पन्न किया हो—वे दोनों सम्पत्ति के स्वामी नहीं बन सकते, क्योंकि पहला व्यभिचार से पैदा हुआ है और दूसरा कामवासनाओं की पूर्ति करने के लिए॥१४३॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक विधान नियोग से पैदा हुई सन्तान को वैध और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानता है और बिना नियोग या नियोग के नियमों का उल्लङ्घन करके उत्पन्न की हुई सन्तान को व्यभिचार से पैदा हुई मानकर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं ठहराता।

वैदिक विधान के अनुसार न्यायालय

महाभारत में जब अम्बिका और अम्बालिका से नियोग कराने का प्रस्ताव आया, तब तीन जजों की समिति बैठी—१. सत्यवती, २, भीष्मजी और ३. व्यासजी। इन तीनों का

सर्वसम्मत निर्णय नियोग के पक्ष में है—

सत्यवती—**धर्मं कर्तुमिहार्हसि।** —महा० आदि० १०३.१०

नियोग धर्म है, तुम्हें यह धर्मकार्य अवश्य करना चाहिए।

भीष्म—**तदिदं धर्मसंयुक्तम्॥** —महा० आदि० १०५।२० [गीता प्रे० सं० १०४।२२]

यह नियोग धर्म के अनुसार है।

व्यासजी—**दृष्टं ह्येतत् सनातनम्॥** —महा० आदि० १०४।३६ [गी० प्रे० सं० १०४।४१]

नियोगरूपी यह सनातन मार्ग शास्त्रों में देखा गया है, अर्थात् शास्त्रसम्मत है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक विधान के अधीन न्यायालय का निर्णय नियोग को धर्म ठहराता है। चूँकि वेद, वैदिक विधान और वैदिक विधान के अधीनस्थ न्यायालय नियोग को धर्म ठहराते हैं, अतः नियोग धर्म है और इसका वर्णन करनेवाला सत्यार्थप्रकाश वेदानुकूल है तथा संसार से व्यभिचार और अशिष्टता व असभ्यता को मिटाकर सदाचार और शिष्टता की शिक्षा देनेवाला ग्रन्थ है। इसके विरुद्ध वर्त्तमान न्यायालय का निर्णय निराधार और झूठा है।

२. इस पेशावर के न्यायालय के निर्णय के पश्चात् पोपजी ने लाला लाजपतराय के लिखे स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र पृष्ठ १३० से कुछ लेख उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि ''स्वामी दयानन्दजी निर्भ्रान्त नहीं थे और उन्होंने समय-समय पर कई-एक सिद्धान्तों को परिवर्तित किया। यदि वे जीते रहते तो सम्भव है और भी कई सिद्धान्तों को बदल लेते।''

हमारी यह समझ में नहीं आया कि पोपजी ने इस लेख से आर्यसमाज पर क्या आक्षेप किया है, क्योंकि आर्यसमाज तो इस बात को अपनी विशेषता स्वीकार करता है। आर्यसमाज ईश्वरपूजक है, मनुष्यपूजक नहीं। आर्यसमाज यह मानता है कि ईश्वर निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ है, इसलिए उसके प्रकाशित किये हुए चार वेद निर्भ्रान्त और स्वतःप्रमाण हैं; और जीव अल्पज्ञ होने के कारण निर्भ्रान्त नहीं हो सकते, अतः उनकी रची हुई पुस्तकों में ग़लती होना सम्भव है, इसलिए आर्यसमाज ऋषिकृत ग्रन्थों को परतःप्रमाण मानता है, अर्थात् यदि वे वेद के अनुकूल हैं तो ठीक हैं और यदि उनमें कोई बात वेद के विरुद्ध है तो वह ग़लत है।

ऋषि दयानन्दजी में यह विशेषता थी कि वे आर्यसमाज में मनुष्यपूजा आरम्भ नहीं करना चाहते थे और न वे अपनी पूजा ही कराना चाहते थे, इसलिए जब उन्हें पता लग जाता था कि मेरा अमुक सिद्धान्त वेद के अनुकूल नहीं है, तो वे सचाई से उस सिद्धान्त को छोड़कर वेदानुकूल सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते थे। यह ऋषि दयानन्दजी का गुण था, न कि दोष। अब आर्यसमाज भी, यदि उसे सन्तुष्टि हो जाए कि अमुक सिद्धान्त वेद के विरुद्ध है तो उसे छोड़कर वेदानुकूल सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए सदा तत्पर रहता है, परन्तु वह केवल इस आधार पर अपने किसी सिद्धान्त को परिवर्तित करने के लिए तैयार नहीं कि यदि स्वामी दयानन्दजी जीवित रहते तो पता नहीं वे किन-किन सिद्धान्तों को परिवर्तित कर लेते।

हाँ, यदि कोई व्यक्ति युक्ति और प्रमाणों से आर्यसमाज के किसी सिद्धान्त को वेद के विरुद्ध सिद्ध कर दे तो आर्यसमाज हर समय वेदानुकूल सचाई को स्वीकार करने के लिए तैयार है, क्योंकि आर्यसमाज का धर्म स्वामी दयानन्द नहीं, प्रत्युत आर्यसमाज का धर्म वेद है। इसी बात को लाला लाजपतरायजी ने वर्णित किया है और लाला लाजपतरायजी स्वामीजी की इस वेदभक्ति की प्रशंसा करते हैं। पोपजी ने शायद लाला लाजपतराय का

लेख इस उद्देश्य से उद्धृत किया हो कि लाला लाजपतरायजी आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द से घृणा करनेवाले थे, परन्तु पोपजी का यह विचार अत्यन्त तुच्छ है। यद्यपि इसी जीवन-चरित्र में लालाजी ने स्थान-स्थान पर आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी की प्रशंसा की है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी लालाजी आर्यसमाज और स्वामीजी की प्रशंसा में अनेक बार प्रवचन और लेखन करते रहे हैं। हम यहाँ स्वामी दयानन्दजी और आर्यसमाज के बारे में लाला लाजपतरायजी के दो लेख अङ्कित कर रहे हैं। पाठक ध्यान दें कि लालाजी की आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी में कितनी श्रद्धा-भक्ति थी—

"मैंने सर्वसाधारण की सेवा के समस्त पाठ आर्यसमाज में रहते हुए आर्यसमाज से सीखे। आर्यसमाज के मण्डल में ही मैंने विश्वव्यापी जीवन और पवित्रता के नमूने (आदर्श) देखे। मेरी गर्दन पर आर्यसमाज के उपकार असंख्य और असीम हैं। यदि मेरा रोम-रोम भी आर्यसमाज पर बलिदान हो जाए तो भी मैं उन उपकारों से अनृण नहीं हो सकता। यदि मैं आर्यसमाज में प्रविष्ट न होता तो ईश्वर जाने क्या होता! परन्तु सत्य यह है कि मैं आज जो कुछ हूँ, वह न होता।" —प्रकाश, लाहौर, १२ मई, १९२९

"स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं। मैंने संसार में केवल उन्हीं को एकमात्र अपना गुरु माना है। वे मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी माता है। इन दोनों की गोद में मैं पालित और पोषित हुआ और अपने मस्तिष्क को ढाला। मुझे अभिमान इस बात का है कि मेरा गुरु अत्यन्त स्वतन्त्र मनुष्य था।" —प्रताप, लाहौर, २६ नवम्बर, १९२३

इन लेखों से स्पष्ट सिद्ध है कि लाला लाजपतरायजी आर्यसमाज को अपनी माता और स्वामी दयानन्द को अपना पिता और गुरु स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने लिखे हुए जीवन-चरित्र के पृष्ठ १३० पर जो लिखा है कि "स्वामी दयानन्द निर्भ्रान्त नहीं थे", वह केवल आर्यसमाज के एक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए लिखा है जोकि वैदिक धर्म और आर्यसमाज का समर्थन करता है और पौराणिक पोपमण्डल की मनुष्यपूजा का प्रबल खण्डन करता है।

श्रीमान् मिश्रजी महाराज! आर्यसमाज का तो निश्चित सिद्धान्त है कि ऋषि दयानन्दजी भी मनुष्य थे, अतः उनसे ग़लती का होना सम्भव है। इसलिए आर्यसमाज वेद को मापक मानकर प्रत्येक वेदविरुद्ध सिद्धान्त को परिवर्तित करके वेदानुकूल सिद्धान्तों को मानने के लिए तैयार है, परन्तु आर्यसमाज एक ही सिद्धान्त के बारे में दो परस्पर-विरोधी लेखों को प्रमाण नहीं मानता, प्रत्युत आर्यसमाज के सिद्धान्त पूर्णरूप से निश्चित हैं, परन्तु सनातनधर्म के विचार के अनुसार तो वेद, स्मृतियाँ, पुराण आदि शास्त्र आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में आपके सिद्धान्त तो दृढ़तापूर्वक स्थिर ही नहीं किये जा सकते, क्योंकि शिवपुराण में लिखा है कि—

चत्वारश्च तथा वेदाः सेतिहासपुराणकाः ॥ ११६ ॥
धर्मशास्त्राणि विद्याभिर्वैदिकीभिस्समन्विताः। परस्परविरुद्धार्थाः शिवप्रकृतिपादकाः ॥ ११७ ॥
सत्कृत्य शिवयोराज्ञां मङ्गलं प्रदिशन्तु मे ॥ ११८ ॥ —शिव० वायु० उत्तरा० ३१।११६-११८

अर्थ—इतिहास-पुराणों-सहित चारों वेद और वैदिक विद्याओं से युक्त धर्मशास्त्र जोकि शिव का वर्णन करनेवाले और परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध अर्थवाले हैं, वे शिव-पार्वती की आज्ञा का सत्कार करते हुए मेरे लिए कल्याण का उपदेश करें।

इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक पोपमण्डल के व्यासजी चारों वेदों और शास्त्रों में परस्पर विरोध मानते हैं। इसी बात का गरुडपुराण में स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया

गया है—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

—गरुड० आचार० १०९।५१

अर्थ—तर्क में कोई श्रद्धा नहीं हो सकती और वेद के मन्त्रों में परस्पर विरोध है। ऐसा कोई ऋषि भी दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका सिद्धान्त पृथक् न हो, इसलिए धर्म का रहस्य तो गुफा में छुपा हुआ है, बस, महापुरुष जिस मार्ग से चलें वही धर्म है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुराणों के कर्त्ता व्यासजी वेद के मन्त्रों और ऋषियों के धर्मशास्त्रों में परस्पर विरोध मानते हैं। बतलाइए, ऐसी अवस्था में पौराणिक पोपमण्डल के सिद्धान्त ठीक रूप से कैसे निश्चित किये जा सकते हैं? अतः वे समय-समय पर महापुरुषों के आचरण के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं और किसी समय भी सनातनधर्म के सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक स्थिर नहीं किये जा सकते, क्योंकि उनकी आधारशिला वेदों पर नहीं प्रत्युत मनुष्यों पर आधारित है। आर्यसमाज के सिद्धान्त सदा स्थिर रहेंगे, क्योंकि उनका आधार मनुष्यों पर नहीं अपितु वेदों पर है। बस, सनातनधर्म मनुष्यपूजक और आर्यसमाज वेदानुकूल ईश्वरपूजक है।

३. लाला लाजपतरायजी की सम्मति लिखने के पश्चात् पोपजी ने 'आर्य मुसाफ़िर' आगरा के पत्र ७।८।३१ के अङ्क में से हरबिलास शारदा, सहायक मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर की वह घोषणा अङ्कित की है, जिसमें आर्यसमाजियों से प्रार्थना की गयी है कि "वे सत्यार्थप्रकाश की उन ग़लतियों से सभा को सूचित करें कि जो उन्हें दूसरों के साथ वाद-विवाद और शास्त्रार्थों के समय ज्ञात हुई हैं, जिससे उन अशुद्धियों को दूर कर दिया जाए।"

हम चकित हैं कि पोपजी ने इस विज्ञापन को अङ्कित करके अपना कौन-सा प्रयोजन सिद्ध किया है, क्योंकि यह बात आर्यसमाज के गुणों—विशेषताओं में वृद्धि करती है न कि कमी, क्योंकि आर्यसमाज सत्यार्थप्रकाश आदि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों को दयानन्द-स्मृति ही मानता है और स्मृति का यह धर्म होता है कि वह वेद के आधारभूत सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करे तथा देश और काल के अनुसार देश की व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए इस प्रकार के विधि और विधान बनाये जो वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। स्मृतियाँ ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण होती हैं, अतः वे वहाँ तक ही प्रमाण होती हैं जहाँ तक वे वेद के विरुद्ध न हों। जहाँ वे वेद के विरुद्ध होंगी वहाँ वे प्रमाण न होंगी। इसलिए स्मृतियों में यदि कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो उसे वेद के अनुकूल ठीक किया जा सकता है और देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ उनके विधि-विधान में ऐसे परिवर्तन भी किये जा सकते हैं जो परिवर्तन वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों।

यद्यपि उपर्युक्त विज्ञापन से स्पष्ट सिद्ध है कि सभा का उद्देश्य सत्यार्थप्रकाश में पते, पाठभेद और मुद्रण की शाब्दिक अशुद्धियों को दूर करने का है, किसी सिद्धान्त को परिवर्तित करने का सभा का प्रयोजन नहीं है और न ही आज तक सत्यार्थप्रकाश के सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन हुआ है, परन्तु आर्यसमाज तो यह भी मानता है कि यदि सत्यार्थप्रकाश में कोई सिद्धान्त वेद के विरुद्ध सिद्ध हो जाए तो उसे भी वेदानुकूल ठीक किया जा सकता है और देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ सत्यार्थप्रकाश के विधि-विधान में इस प्रकार के परिवर्तन किये जा सकते हैं जो परिवर्तन वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों।

ऐसी अवस्था में सत्यार्थप्रकाश की वर्त्तमान पदावली और भाषा को तो परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी लेखक की पुस्तक में किसी दूसरे को हस्तक्षेप करके उसकी भाषा को परिवर्तित करने का कोई अधिकार नहीं है। हाँ, ऐसे परिवर्तनों के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश में पादटिप्पणियाँ दी जा सकती हैं और आर्यसमाज सभा में प्रस्ताव पास करके इन परिवर्तनों की सार्वजनिक घोषणा कर सकता है, परन्तु पौराणिक पोपमण्डल तो पुराणों को ईश्वरकृत और वेदों से भी पूर्व प्रकाशित हुए मानता है, जैसाकि शिवपुराण में लिखा है—

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्॥ ३१॥
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ ३२॥ —शिव० वायु० पूर्व० १।३१-३२

अर्थ—ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पूर्व पुराणों को प्रकाशित किया, तत्पश्चात् उसके मुख से वेदों का प्रकाश हुआ।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पौराणिक लोग पुराणों को ईश्वरकृत मानते हैं, परन्तु इन पुराणों में सदा संशोधन होते आये हैं। भविष्यपुराण में लिखा है—

सर्वाण्येव पुराणानि संज्ञेयानि नरर्षभ। द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह मनीषिभिः॥ १०३॥
पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्विविधैर्नृप॥ १०४॥ —भवि० ब्राह्म० १.१०३-१०४

अर्थ—हे नरश्रेष्ठ! यह निश्चय जानो कि बुद्धिमानों ने सारे पुराण बारह सहस्र श्लोकों में बनाये थे, फिर अनेक प्रकार की कथाओं से वृद्धि को प्राप्त हो गये।

इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि पहले सम्पूर्ण अट्ठारह पुराण केवल बारह सहस्र श्लोकों में थे, परन्तु बाद में लोगों ने इनमें असंख्य कथाएँ मिलाकर इस समय लाखों[1] श्लोकों के पोथे बना डाले। गरुडपुराण में महाभारत के विषय में लिखा है—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृते युगे भारते षट्सहस्र्याम्।
निष्काष्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥ —गरुड० उत्तर० १।६९

अर्थ—सत्ययुग के सारे राक्षस लोग ब्राह्मण-कुलों में उत्पन्न होकर छह सहस्र श्लोकों में बनी हुई महाभारत में से कुछ श्लोकों को निकालकर नये निर्मित श्लोकों को इसमें सदा डालते रहते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महाभारत पहले केवल छह सहस्र श्लोकों का ग्रन्थ था, परन्तु ब्राह्मणों ने उसमें से कुछ श्लोक निकाल भी डाले और सहस्रों श्लोक इसमें मिलाकर महाभारत को एक लाख श्लोकों का पोथा बना डाला।

सनातनधर्म सभा के सम्मेलन, लाहौर में मालवीयजी की अध्यक्षता में सन् १९२५ में पुराणों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास हुआ था, जिसका आशय निम्नलिखित है—

''यह सम्मेलन इस बात को अनुभव करता है कि अब समय आ गया है जबकि पुराणों का संशोधन करके सनातनधर्म की स्थिति को स्पष्ट किया जाए। इसके लिए विद्वानों की एक समिति बनाई जाए जो पुराणों का संशोधन करके आगामी वर्ष के सनातनधर्म के सम्मेलन में प्रस्तुत करे।''

अब आप ही बतलाएँ कि पौराणिक पोपमण्डल की इस सम्बन्ध में क्या स्थिति है?

४. परोपकारिणी सभा के मन्त्री की घोषणा (विज्ञापन) के पश्चात् पोपजी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी की उस सम्मति को उद्धृत किया है जोकि महात्मा गाँधी ने

१. इस समय अट्ठारह पुराणों में लगभग चार लाख श्लोक हैं। —सं०

अनुभवहीनता और मुसलमानों की सङ्गति से प्रभावित होकर आर्यसमाज को हिन्दू-मुस्लिम एकता में बाधक समझकर आर्यसमाज को नष्ट करने के लिए सन् १९२४ में लिखी थी। इसमें महात्मा गाँधी ने अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और सत्यार्थप्रकाश पर दोषारोपण किये थे।

महात्मा गाँधी का विचार था कि मेरे इस लेख से आर्यसमाज की मृत्यु हो जाएगी, परन्तु यह तो आर्यसमाज था। जिस आर्यसमाज की आधारशिला ईश्वरीय वैदिक धर्म पर आधारित हो, उसका महात्मा गाँधी-जैसा अल्पज्ञ जीव क्या बिगाड़ सकता था? आर्यसमाज की ओर से महात्मा गाँधी के लेख का करारा उत्तर दिया गया और साथ ही उन्हें शास्त्रार्थ का चैलैञ्ज दिया गया तथा शास्त्रार्थों के महारथी पं० रामचन्द्रजी 'देहलवी' स्वयं गाँधीजी की सेवा में उपस्थित हुए और विचार-विनिमय की आज्ञा माँगी, परन्तु गाँधीजी ने शास्त्रार्थ करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। उन्होंने अपने लेख पर खेद प्रकट किया और इस विवाद को समाप्त करने के लिए आर्यसमाज से प्रार्थना की। आर्यसमाज ने 'इज़हारे हक़ीक़त'[१] नाम से एक पुस्तक सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दिल्ली की ओर से महात्मा गाँधी के लेख के उत्तर में प्रकाशित करके महात्मा गाँधी की प्रार्थना पर इस क्रम को भविष्य के लिए बन्द कर दिया। इस प्रकार महात्मा गाँधी की ओर से आरम्भ किया गया यह निष्प्रयोजन और व्यर्थ का वाद-विवाद समाप्त कर दिया गया, परन्तु गाँधीजी को इसका दण्ड अवश्य भोगना पड़ा और वह यह कि जब तक महात्मा गाँधी ने अपने लेख को वापस लेकर उसपर खेद प्रकट नहीं किया और जब तक उन्होंने अपने लेख के खण्डन में समय-समय पर लेख लिखकर अपना प्रायश्चित्त नहीं किया तब तक वे शिक्षित हिन्दू जनता में अपने प्रति श्रद्धा का भाव जाग्रत् नहीं कर सके और लगभग पाँच वर्ष तक शरीर से काटकर फेंके गये अङ्ग की भाँति सार्वजनिक कार्यों से अलग-थलग साबरमती आश्रम में पड़े रहे। यह तो हमने वास्तविक वृत्तान्त लिखा है। अब हम इस बारे में आर्यसमाज का सिद्धान्त लिखते हैं—

आर्यसमाज महात्मा गाँधी का आदर करता है, परन्तु आर्यसमाज महात्मा गाँधी को राजनैतिक नेता मानता है, उन्हें धार्मिक आचार्य स्वीकार नहीं करता। महात्मा गाँधी को धार्मिक विषयों में सम्मति देने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ —मनु० १२.११३

अर्थ—वेद को जाननेवाला धर्मात्मा ब्राह्मण अकेला भी जिस धर्म की व्यवस्था दे, वह परमधर्म मानना चाहिए। वेद के न जाननेवाले दस सहस्र व्यक्तियों का कहा हुआ भी धर्म नहीं है।

इस प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए वह व्यक्ति ही प्रमाण हो सकता है जो चारों वेदों का जाननेवाला, पूर्ण विद्वान् और धर्मात्मा हो। गाँधीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि—"मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और उन सब ग्रन्थों को मानता हूँ जो हिन्दूशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दू-धर्मग्रन्थों पर जो मेरी श्रद्धा है, उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मैं उनके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को ईश्वरीय मानूँ और न मैं इस बात का दावा ही रखता हूँ कि इन अनूठी पुस्तकों का ठीक-ठीक ज्ञान मुझे है। गीता और तुलसीदास की रामायण के सङ्गीत से जो स्फूर्ति मुझे मिलती है, वैसी और किसी से नहीं मिलती। हिन्दूधर्म में भी दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके विषय में कहा जा

१. सभा द्वारा इसी पुस्तक का हिन्दी संस्करण 'सत्य-निर्णय' के नाम से भी प्रकाशित हुआ था। —सं०

सकता है कि मैंने देखे हैं।'' —नवजीवन, ७ अक्तूबर १९२१

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महात्मा गाँधीजी ने वेदों को बिल्कुल नहीं पढ़ा, प्रत्युत उनका धार्मिक अध्ययन गीता और तुलसीकृत रामायण तक ही सीमित है, इसलिए उपर्युक्त मनुस्मृति के श्लोक के अनुसार महात्मा गाँधी धर्म-अधर्म के विषय में निर्णय देने के योग्य नहीं, अतः आर्यसमाज के सम्बन्ध में उनका लेख प्रभावी और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

अब मैं पौराणिक पोपमण्डल से पूछना चाहता हूँ कि क्या वह महात्मा गाँधी के लेखों को धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण मानता है? यदि नहीं तो फिर आर्यसमाज के समक्ष महात्मा गाँधी के लेख को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना केवल मूर्खता ही है। यदि हमारे पौराणिक भाई महात्मा गाँधी के लेखों को धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में कसौटी मानते हैं तो कृपा करके बताएँ कि गाँधीजी के निम्नलिखित लेखों को क्या वे धर्म-अधर्म की कसौटी स्वीकार करते हैं—

१. वेद—मैं तो बाइबिल, कुरआन और ज़न्द-अवेस्ता को भी वेदों की भाँति ईश्वर-प्रेरणा का फल मानता हूँ। —नवजीवन, ७ अक्तूबर सन् १९२१

२. मनुस्मृति—अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु इसमें मांस-भक्षण का स्पष्ट आदेश है, **तो इससे क्या आप मांस खाएँगे?** —नवजीवन, ३० मार्च १९२४

३. रामायण—रामायण से बढ़कर दूसरी प्यारी पुस्तक मेरे लिए नहीं, फिर भी तुलसीदास ने कितनी ही धर्मशास्त्र की बातें लिखी हैं, क्या वे सब मानने के योग्य हैं?

—नवजीवन, ३० मार्च १९२४

४. महाभारत—इसका बड़ा भाग काल्पनिक है, उसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया और न ही दूसरे व्यक्तियों की भाँति मेरा यह विचार है कि महाभारत अपने आरम्भिक मूल की ठीक-ठीक नक़ल है, प्रत्युत मैं तो यह कहूँगा कि इसमें अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। —यंग इण्डिया, १ अक्तूबर १९२५

५. पुराण—पुराणों में जो कहानियाँ लिखी हैं, वर्त्तमान परिस्थितियों में यदि हम उनसे परिचित हों तो उनमें से कुछ अत्यन्त भयङ्कर हैं। यदि हम शास्त्रों की प्रत्येक कथा या उनमें जो पात्र वर्णित किये गये हैं, उनके अनुसार अपने चाल-चलन को ढालें तो फिर शास्त्र हमारे लिए मृत्यु का जाल हो जाएँगे। —यंग इण्डिया, २९ जुलाई १९२६

६. शास्त्र—बहुत-सी स्मृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें छोटे-छोटे क्षेत्रफलों के बाहर कोई नहीं जानता। कोई नहीं बता सकता कि वे स्मृतियाँ कब बनीं। मैंने ऐसी एक स्मृति दक्षिण भारत में देखी थी। जब मैंने विद्वान् पण्डितों से इसके सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि उन्हें इसके सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं। यदि हिन्दुओं को इन समस्त ग्रन्थों का पाबन्द माना जाए तो कदाचित् ही कोई ऐसा दुराचार होगा जिसे शास्त्रों की दृष्टि से उचित न ठहराया जा सके। मुझे ज्ञात है कि मेरे समालोचकों की मेरे इस उत्तर से सन्तुष्टि नहीं होगी। मैं उनका कोई पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता, परन्तु मैंने अपने आलोचकों के आश्चर्य को दूर करने के लिए उन्हें बता दिया है कि मेरी दृष्टि में शास्त्रों का क्या अर्थ है।

—महात्मा गाँधी की पूना से घोषणा, १७ नवम्बर १९३२

७. कृष्ण—मुझे इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि महाभारत के श्रीकृष्ण कभी इस पृथिवी पर उत्पन्न हुए हैं। मैं तो ऐसे कृष्ण के समक्ष सिर झुकाने से इन्कार कर दूँगा जो वध कराने का दोषी हो, क्योंकि ऐसा करने से स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है अथवा उस कृष्ण के समक्ष जिसका हिन्दू-इतर (भिन्न, मुसलमान आदि) एक दुराचारी नौजवान के रूप

में खिल्ली उड़ाते हैं। मैं तो भगवान् कृष्ण को अपने विचार के अनुसार पूर्ण अवतार, एक निर्दोष हस्ती, गीता की बांसुरी बजानेवाला और करोड़ों मनुष्यों में जीवन की लहर दौड़ानेवाला समझता हूँ। यदि मेरे समक्ष यह सिद्ध कर दिया जाए कि वर्त्तमान अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों (भागवत आदि पुराणों) की भाँति महाभारत भी एक इतिहास है और महाभारत के कृष्ण से कुछ वही कर्म हुए हैं जो उनपर आरोपित किये जाते हैं तो मैं इस बात की जोखिम उठाते हुए भी कि मुझे हिन्दूधर्म से निकाल दिया जाएगा, मैं बिना झिझक के कहूँगा कि मैं कृष्ण को भगवान् का अवतार नहीं मानता, परन्तु मेरे विचार में महाभारत एक गम्भीर, धार्मिक पुस्तक है और उसका बहुत बड़ा भाग काल्पनिक है।

—यंग इण्डिया, १ अक्तूबर १९२५

८. **राम**—हम जिस राम के गुण गाते हैं वे वाल्मीकि के नहीं, तुलसी रामायण के राम भी नहीं हैं। रामायण के राम वे राम नहीं हैं जिनका नाम लेकर भव-सागर से पार हो सकें अथवा जिनका नाम दु:ख के अवसर पर लिया करें, परन्तु वे राम तो दशरथ के पुत्र और सीता के पति नहीं। वे तो देहधारी राम नहीं हो सकते। वे तो न जन्म लेते हैं और न मरते हैं। —प्रताप (लाहौर), १० अप्रैल १९२८

९. **मूर्त्तिपूजा**—किसी मूर्त्ति को देखकर मेरे हृदय में तो किसी प्रकार की आदर की भावना उत्पन्न नहीं होती। —नवजीवन, १९ मार्च १९२९

१०. **श्राद्ध**—प्राचीन समय में मरने के पश्चात् दिये जानेवाले भोजन में चाहे कुछ अर्थ भले ही हो, इस युग में हमारी बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संस्कृत श्लोक क्या काम दे सकते है! मरने के बाद भोजन को बुद्धि भी स्वीकार नहीं करती, हृदय भी स्वीकार नहीं करता। ऐसे भोजनों को जंगली मानने के लिए इससे प्रबल कारण मेरे पास नहीं। —नवजीवन, २४ जून १९२६

११. **गो-वध**—मैं कट्टर सनातनधर्मी हूँ, परन्तु एक मुसलमान को अधिकार दूँगा कि यदि उसकी आस्था है तो नि:सन्देह गौ का मांस खाए!

—प्रताप (लाहौर), २९ दिसम्बर १८२४

१२. **तीर्थ**—मैं एक तीर्थ-यात्री की भावनाएँ लेकर हरिद्वार नहीं गया था। मैंने स्वयं तो पवित्रता की खोज के लिए तीर्थस्थानों पर जाने का कभी विचार भी नहीं किया। मेरे लिए यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकार के विश्वास से कहाँ तक आत्मिक उन्नति होती है। —यंग इण्डिया, ३१ मई १९२८

१३. **राम नाम का उच्चारण**—राम नाम का उच्चारण कभी पुरुषार्थ के स्थान पर काम नहीं आ सकता। —यंग इण्डिया, २१ अक्तूबर १९२६

१४. **खाना-पीना**—मैं नीच जातिवालों के साथ खा-पी लेता हूँ, मुसलमानों के साथ खा-पी लेता हूँ। मैं इतना-कुछ कर सकता हूँ, परन्तु मैं अपने-आपको सनातनधर्मी वर्णाश्रमी मानता हूँ। —तेज (दिल्ली), २५ जुलाई १९२५

१५. **जातपात-तोड़क विवाह**—रोटी-व्यवहार तो हमारी बहुत-सी जातियों में दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है पर बेटी-व्यवहार आरम्भ हो जाने से भी एक तो सारी जाति का संगठन बढ़ जाएगा और दूसरे कुलों तथा स्त्रियों की खोज का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा।

—नवजीवन, २५ मार्च १९२६

१६. **बलिदान**—काली को बकरे का बलिदान करना मैं बिल्कुल अधर्म मानता हूँ।

—यंग इण्डिया (हिन्दी), दूसरा भाग, पृष्ठ ७६८

१७. **विधवा-विवाह**—जो लड़की पन्द्रह वर्ष के भीतर विधवा हो गयी हो तो उसके

विवाह का प्रबन्ध करना पिता का धर्म है। —नवजीवन, ११ मई १९२४

१८. छूतछात—छूतछात की धर्म की ओर से आज्ञा नहीं है। यह तो शैतान का धर्म है। अपने लाभ के लिए शैतान भी धार्मिक पुस्तकों का अवतरण दिया करता है।

—यंग इण्डिया (हिन्दी), दूसरा भाग, पृष्ठ ७१९

१९. नारियों की स्वतन्त्रता—हमारी देवियों को इतनी ही स्वतन्त्रता क्यों नहीं मिलती, जितनी पुरुषों को है? —यंग इण्डिया, ३ फरवरी १९२७

और भी बहुत-सी सम्मतियाँ और आचरण महात्माजी के धर्म के विषय में लिखे जा सकते हैं, उदाहरण के रूप में बछड़े को इञ्जैक्शन द्वारा मरवा डालना, आदि-आदि। क्या पौराणिक पोपमण्डल महात्माजी के उपर्युक्त लेखों को धर्म और अधर्म में कसौटी मानकर उनके अनुसार आचरण करने के लिए तैयार है और क्या महात्माजी के उपर्युक्त लेखों का सनातनधर्म के सिद्धान्तों पर प्रभावी होना पौराणिक पोपमण्डल स्वीकार करता है? यदि नहीं तो फिर सत्यार्थप्रकाश, आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्दजी के सम्बन्ध में महात्माजी की सम्मति क्या मूल्य रखती है?

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में प्रमुख नेताओं की सम्मतियाँ

यद्यपि हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि राजनैतिक नेताओं की सम्मति आर्यसमाज, सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में कोई मूल्य और महत्त्व नहीं रखती, तथापि यदि पौराणिक पोपमण्डल राजनैतिक नेताओं की सम्मति को ही धर्म और अधर्म की कसौटी मानता है तो हम आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में राजनैतिक नेताओं की सम्मतियाँ यहाँ पर लिखते हैं—

१. श्रीयुत वी०जे० पटेल, प्रधान असेम्बली

बहुत-से महानुभाव स्वामी दयानन्द को सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो दयानन्द एक सच्चा राजनैतिक नेता था, क्योंकि ऋषि दयानन्द ही पहला व्यक्ति था जिसने यह कहा कि दूसरों का उत्तम शासन भी अपने शासन के समान नहीं हो सकता। चालीस वर्ष से जो पुरोगम इण्डियन नेशनल कांग्रेस का है, वह सब पुरोगम वही है जो ऋषि दयानन्द ने आज से पचास वर्ष पूर्व हम सबके समक्ष रख दिया था। सारे भारत की एक भाषा, खद्दर, स्वदेशी का प्रचार, पञ्चायतों की स्थापना, अछूतों का उद्धार—सारांश यह है कि वर्त्तमान कांग्रेस का प्रत्येक कार्यक्रम भगवान् दयानन्द का ही बतलाया हुआ है। सचमुच हम भाग्यहीन थे, जिन्होंने पचास वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द के पुरोगम को समझकर उसपर आचरण नहीं किया। यदि हम ऋषि दयानन्द के बताये पुरोगम पर आचरण करते तो आज भारतवर्ष स्वतन्त्र हो जाता। मैं ऋषि दयानन्द को अपना राजनैतिक नेता मानता हूँ और मेरी दृष्टि में दयानन्द सचमुच एक राजनैतिक क्रान्तिकारी था।

—तेज (दिल्ली), १५ फरवरी १९२५

२. श्रीयुत सी०एस० रंगास्वामी अय्यर, सदस्य लैजिस्लेटिव असेम्बली

मैं सोचता और चकित होता था कि महात्मा गाँधी को आर्यसमाज, सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में इस प्रकार अनर्गल प्रलाप क्यों करना चाहिए था जैसाकि उन्होंने करना पसन्द किया। महात्माजी कहते हैं कि उन्होंने इस महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश

का कारागृह में सर्वप्रथम अध्ययन किया और उन्हें निराशा हुई है। मेरे-जैसे साधारण व्यक्ति को भी कारागृह में ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है। कारागृह के सींखचों के पीछे एक वर्ष तक सत्यार्थप्रकाश मेरा मित्र, ज्योति और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में वेदों का निचोड़ है। सत्यार्थप्रकाश के महत्त्व को कम करने का अर्थ यह है कि वेदों के बहुमूल्य सार एवं संक्षेप की प्रतिष्ठा और मूल्य को कम किया जाए। महात्मा गाँधी और दयानन्द के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि वेदों के विषय में श्रेष्ठ कौन है ? महात्मा गाँधी ने जो आक्षेप किये हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुए मेरा विचार नहीं कि महात्माजी ने सम्पूर्ण वेदों को पढ़ा हो, इनके अर्थों को समझना तो दूर रहा। स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में महात्माजी के आक्षेपों को मैं दोहराना नहीं चाहता। संन्यासी दयानन्द के जीवन और कार्य को राजनैतिक दृष्टिकोण से देखना न्यायोचित नहीं है। महात्माजी का आर्यन आन्दोलन के महान् आरम्भकर्ता स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में आलोचना करना राजनैतिक कारणों पर निर्भर है। हिन्दू-मुस्लिम एकता उनकी आत्मा की पुकार है और महात्माजी अपने इर्द-गिर्द दृष्टि डालने पर आर्यसमाजियों को ही इसमें रुकावट पाते हैं और वे उन समस्त दोषों को दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के साथ जोड़ते हैं। जब महात्मा गाँधी समाजियों के दोषों को दयानन्द की शिक्षा से जोड़ते हैं तो कोई भी व्यक्ति यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि एक महापुरुष अन्य महापुरुष के साथ न्याय करने के योग्य नहीं है। साधारण व्यक्ति महापुरुषों के सम्बन्ध में न्याय कर सकते हैं।

—प्रताप (लाहौर), २२ जून १९२४

३. महात्मा टी०एल० वास्वानी

स्वामी दयानन्दजी के लिए मेरे हृदय में प्रेम और आदर है। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दूधर्म को संकुचित कर दिया है, प्रत्युत मेरा विश्वास है कि उन्होंने हिन्दूधर्म को विस्तृत किया है। स्वामीजी ने न केवल छूतछात के कलङ्क को दूर करने का प्रचार किया, प्रत्युत जाति-पाति के बन्धनों को भी दूर करने का प्रचार किया। आपने स्वदेशी, जातीय शिक्षा, राष्ट्रीय भाषा आदि की वकालत की और अपने कट्टरपन को तोड़ दिया। आपने नाइयों और अन्य प्रसिद्ध अन्त्यज जातियों को धार्मिक अधिकार भी दिये थे। मेरा विश्वास है कि स्वामीजी भारत की आर्यसभ्यता और शिष्टता के वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ साक्षी थे। वस्तुतः मैं उन्हें एक सुधारक ही नहीं समझता, प्रत्युत एक ऋषि समझता हूँ। लूथर को सुधारक कहा जाता है। मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द के जीवन और विद्या के सन्देश लूथर की अपेक्षा महान् थे। मैं स्वामी दयानन्द को वर्त्तमान भारत के ऋषियों, मुनियों, विद्वानों, पण्डितों और शहीदों में सबसे बढ़कर मानता हूँ।

—तेज (दिल्ली), ३० जून १९२४

४. श्रीमती सरोजनी नायडू, भूतपूर्व अध्यक्ष इण्डियन नेशनल कांग्रेस

किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द एक सच्चा मनुष्य दिखाई देता है, कोई ऋषि दयानन्द को सम्पूर्ण गुणों का समूह कहता है, किसी की दृष्टि में दयानन्द स्वराज्य के जन्मदाता हैं, किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द सचाई और निर्भयता का देवता और धर्म का अवतार है, कोई ऋषि दयानन्द को सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सुधारक कहता है। वस्तुतः लोग जो कुछ कहते हैं, दयानन्द वह सब-कुछ हैं, परन्तु मैं तो ऋषि दयानन्द को प्रत्येक प्रकार की दासता और बन्धन से छुड़ानेवाला मानती हूँ चाहे वह दासता मस्तिष्क की हो चाहे धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हो। —तेज (दिल्ली), १५ फरवरी १९२५

५. मौलाना हसरत मोहानी

जब कोई हिन्दू आर्यसमाज में आ जाता है तो उसमें एक विशेष परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। उसमें उत्साह, देशभक्ति, निर्भयता और एक नयी प्रकार की भावना कार्य करने लगती है। जब लोग स्वराज्य के स्वप्न ले रहे थे तब श्री दयानन्द और आर्यसमाज अपने लेखन और प्रवचन के द्वारा इसका प्रचार कर रहे थे। मैं प्रसन्नतापूर्वक यह बात कहना चाहता हूँ कि असहयोग आन्दोलन के समय पहले लगभग ९० प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में भाग लेनेवाले और नेता थे। —तेज (दिल्ली), ८ फरवरी १९२५

हमने ये केवल पाँच सम्मतियाँ नमूने (आदर्श) के रूप में अङ्कित की हैं। इनसे स्पष्ट सिद्ध है कि भारतवर्ष के सभी नेताओं ने महात्मा गाँधी के इस कर्म को निन्दनीय समझा था, अतः आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी का लेख असत्य, निराधार और पक्षपातपूर्ण है।

पाठक महाशय! हमने इन राजनैतिक नेताओं की ये कुछ वे सम्मतियाँ अङ्कित की हैं, जो महात्मा गाँधी के लेख के उत्तर में उस समय समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई थीं और ये उन महानुभावों की सम्मतियाँ हैं जो राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी से किसी भी अवस्था में न्यून प्रतिष्ठा नहीं रखते। अब हम भारत और उसके बाहर के कुछ अन्य विद्वान् और विश्वस्त नेताओं की सम्मतियाँ आर्यसमाज और स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में लिखते हैं।

नीचे हम भारत और अन्य देशों के कुछ प्रमुख विद्वानों और नेताओं की सम्मतियाँ आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में लिख रहे हैं—

६. सर सय्यद अहमद खाँ

"अत्यन्त खेद की बात है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी, जो संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड पण्डित और वेद के बहुत बड़े गवेषक थे, ३० अक्तूबर १८८३ को सायं ६ बजे अजमेर में परलोक सिधार गये। विद्या और पाण्डित्य के अतिरिक्त वे अत्यन्त दयालु और सरल-स्वभाव मनुष्य थे। उनके श्रद्धालु उन्हें देवता समझते और निःसन्देह वे इसी योग्य थे। वे ज्योतिःस्वरूप, निराकार परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी की पूजा उचित नहीं समझते थे। हमारी स्वामीजी के साथ बहुत घनिष्ठता थी। हम सदा उनका बहुत आदर करते थे, क्योंकि वे ऐसे विद्वान् और श्रेष्ठ पुरुष थे कि प्रत्येक मतवाले को उनका आदर अनिवार्य था। कदाचित् हमारी समझ की ग़लती हो, परन्तु हमें ध्यान है कि वे प्रकृति को अनादि मानते थे। यदि उनका यह विचार न होता तो परमात्मा के सम्बन्ध में उनका और मुसलमानों का विश्वास बिल्कुल एक था। प्रत्येक प्रकार से वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका उदाहरण इस समय भारत में विद्यमान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को उनकी मृत्यु पर दुःखी होना अनिवार्य है कि एक ऐसा अद्वितीय मनुष्य उनके मध्य से जाता रहा।"

७. कर्नल अल्काट महोदय—थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक

"स्वामी दयानन्दजी महाराज निःसन्देह एक महापुरुष और संस्कृत के एक बड़े विद्वान् थे। उनमें उच्चकोटि की योग्यता, दृढ़ सङ्कल्प और आत्मविश्वास था। वे मानव-जाति के पथ-प्रदर्शक थे। मेरी सम्मति में वे अत्यन्त सुडौल, लम्बे-तगड़े, अत्यन्त मिलनसार और हमारे साथ व्यवहार करने में सदा कृपालु थे। हमारे मन और मस्तिष्क पर उन्होंने अत्यन्त गहरा प्रभाव छोड़ा है।"

८. मिस्टर ह्यूम—नेशनल कांग्रेस के जन्मदाता

"सबको स्वीकार करना पड़ता है कि स्वामी दयानन्द एक महान् और भद्र पुरुष थे और देश के लिए गर्व का कारण थे, जिसे वे हृदय से प्रेम करते थे। सब अनुभव करेंगे

कि उनकी मृत्यु से भारत को एक बहुत बड़ी और खेदजनक हानि सहनी पड़ी है।''

९. मिस्टर जे० रेम्जे मैक्डानल्ड—भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, इंगलैण्ड

अपनी 'अवेकनिंग आफ इण्डिया' (Awakening of India) नामक पुस्तक में लिखते हैं ''आर्यसमाज विशेषरूप से एक धार्मिक संस्था है और इसकी आधारशिला स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से है। स्वामीजी उन पवित्र आत्माओं में से थे जो हिन्दुओं के धार्मिक जीवन के उथल-पुथल के युग में प्रकट हुए। स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२४ में हुआ और १८८३ में उनका स्वर्गवास हो गया। यदि एक वाक्य में सारी बात कहनी हो तो यह है कि उनकी शिक्षा का झुकाव हिन्दूधर्म को फिर से वेदों की पवित्रता की ओर ले-जाना था। मूर्त्तिपूजा ने हिन्दुओं को बहुत नीचे गिर दिया था और प्रत्येक सामाजिक दोष उत्पन्न कर दिया था।

''आर्यसमाज प्राचीन समय की उस जाग्रत् अवस्था का एक चिह्न है जोकि भारत में आजकल प्रकट हो रहा है। आर्यसमाज वेदों की विश्वव्याप्ति का स्वप्न देखता है, इसके लिए स्वामी दयानन्द ने न केवल आर्यों में प्राण ही फूँके प्रत्युत सिद्धान्त भी सिखलाये। उनकी शिक्षा का एक भाग यह भी है कि आर्य चुने हुए लोग हैं और वेद चुनी हुई पवित्र पुस्तक है और भारत चुनी हुई पृथिवी है। एक प्रकार से वह जंगजू मिश्नरी [आक्रामक प्रचारक] था। वह सङ्कल्प का दृढ़, विचारों का स्वतन्त्र, स्थिरनिश्चयी तथा शुद्ध और पवित्र था और ये ही गुण उसने अपने अनुयायियों को प्रदान किये हैं।''

१०. सर सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी—बङ्गाल के बेताज बादशाह

''पण्डित दयानन्द असाधारण कीर्तिवाले धार्मिक आचार्य थे। हो सकता है कि धार्मिक विचारों में हमारा उनसे विरोध हो अथवा हम उनके वेदों के भाष्य को स्वीकार न करें, तो भी एक आचार्य के रूप में उनकी शक्ति और तन्मयता सबपर विजय पाती हुई प्रकट होती है। वह एक योगी और ऋषि था जिसने संसार को त्याग दिया, परन्तु वह ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न था जो किसी संसारी मनुष्य में नहीं पायी जा सकती। उसकी मृत्यु से न केवल उस धार्मिक संस्था [आर्यसमाज] को जिसका वह प्राण था एक अपूरणीय क्षति हुई है, प्रत्युत देश के उन सभी वासियों के लिए क्षति है जो सदा उनके ज्ञान पर गर्व करेंगे और उसके नाम को सदा प्रेम और कृतज्ञता के साथ स्मरण करेंगे।''

११. लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक

''जो लोग मतभेद को सहन नहीं कर सकते वे चाहे इस बात को न मानें, परन्तु जिनमें अपने शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा करने का प्रशंसनीय साहस है वे स्वीकार करेंगे कि स्वामी दयानन्द योग्यता का भण्डार और गवेषक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वे कहेंगे कि एक महापुरुष चल बसा। हिन्दूधर्म से गाढ़ प्रेम करनेवालों को उचित था कि वे उसके साथ क्रूरता का व्यवहार न करते। यदि युग अनुकूल होता तो आर्यधर्म के सिद्धान्तों ने वेदान्तियों के सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त कर ली होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी अधिक कार्य न कर सके और न ही उनके पाण्डित्य का पूरा मान-सम्मान हुआ, परन्तु इसका कारण हमारी ही उदासीनता थी। हमारे शासक जो हमसे सर्वथा भिन्न सम्प्रदाय के हैं, इसी कारण हम सबको धर्म के विषय में पूरी स्वतन्त्रता मिली हुई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हममें किसी प्रकार का कोई जातीय धर्म नहीं रहा।''

इन सब सम्मतियों को पढ़ने के पश्चात् यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि आज सारे संसार में आर्यसमाज और उसके संस्थापक स्वामी दयानन्दजी के पाण्डित्य, सुधार-

कार्यों और परोपकार की धूम मची हुई है। उस समय महात्मा गाँधी ने कुछ स्वार्थी लोगों के प्रभाव में बहकर आर्यसमाज को हिन्दू-मुस्लिम एकता में रोड़ा समझकर उसे कुचलने के लिए वह लेख लिखा था, परन्तु बाद में आर्यसमाज की दृढ़ता और सैद्धान्तिक सत्य को देखकर उन्हें भी पता लग गया कि आर्यसमाज ऐसा नरम हलवा नहीं है कि जिसे सरलता से निगला और पचाया जा सके, प्रत्युत यह तो लोहे के चने चबाने के सदृश है कि जिनको चबाने का प्रयत्न करनेवाले के दाँत और आँत स्वयं सङ्कट में पड़ जाते हैं।

५. महात्मा गाँधी की आर्यसमाज के सम्बन्ध में सम्मति उद्धृत करने के पश्चात् पोपजी ने पाँच शास्त्रार्थों में आर्यसमाज के विरुद्ध अध्यक्षों के निर्णय अङ्कित करके उन्हें आर्यसमाज की पाँच पराजयों का नाम दिया है। इससे पूर्व कि मैं उन पाँचों शास्त्रार्थों और उनके निर्णयों की वास्तविकता का भण्डाफोड़ करके जनता के समक्ष उनका रहस्य प्रकट करूँ, मैं शास्त्रार्थों में अध्यक्षों की नियुक्ति के सम्बन्ध में आर्यसमाज के दृष्टिकोण का वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ।

आर्यसमाज यह मानता है कि शास्त्रार्थों में जय-पराजय का निर्णय करना किसी साधारण उर्दू-अंग्रेजी पढ़े अथवा साधारण संस्कृत जाननेवाले का कार्य नहीं है, प्रत्युत धर्म के विषय में निर्णय वेदों के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की परिषद् दे सकती है जैसाकि मनुस्मृति में कहा गया है—

ऋग्वेदविद्यजुर्वेदविच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

—मनु० १२।११२

अर्थ—धर्म के विषय में सन्देह का निर्णय करने के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की परिषद् [Bench] ठीक जाननी चाहिए।

यदि तीन व्यक्तियों की परिषद् सम्भव न हो तो आगे चलकर मनुजी कहते हैं—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

—मनु० १२।११३

अर्थ—वेद का जाननेवाला ब्राह्मण अकेला भी जिस धर्म की व्यवस्था दे, वही परम धर्म जानना चाहिए। वेद न जाननेवाले यदि दस सहस्र मिलकर भी निर्णय करें तो वह धर्म नहीं माना जा सकता।

पूर्ण वेद का जाननेवाला अध्यक्ष मिलने पर भी उसके लिए विशेष निर्देश है कि वह पक्षपात से सर्वथा शून्य हो और बिना किसी का पक्ष लिये हुए निर्णय दे सके, अन्यथा उसे पाप लगता है, जैसाकि मनु महाराज ने कहा है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥

—मनु० ८।१३

अर्थ—या तो सभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए अथवा ठीक-ठीक निर्णय देना चाहिए। यदि सभा का निर्णायक बनकर कोई व्यक्ति चुप रहता है अथवा उलटा निर्णय देता है तो वह व्यक्ति पापी होता है।

इतना ही नहीं कि ग़लत निर्णय देनेवाला अध्यक्ष पापी होता है, वरन् वह शूद्र हो जाता है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

—मनु० ८।१६

अर्थ—भगवान् धर्म का नाम 'वृष' है, जो कोई इस धर्म का नाश करता है उसे विद्वान्

लोग वृषल अर्थात् शूद्र कहते हैं, अतः धर्म का लोप नहीं करना चाहिए, अर्थात् ठीक निर्णय देना चाहिए।

इतना ही नहीं कि ग़लत निर्णय देने पर अध्यक्ष पापी और शूद्र हो जाता है, प्रत्युत सभा में बैठे हुए अन्य सर्वसाधारण की भी मृत्यु का कारण बन जाता है, जैसाकि मनुस्मृति में लिखा है—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥

—मनु० ८।१४

अर्थ—जिस सभा में अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य जनता के देखते हुए मारा जाता है वहाँ सब सभासदों, अर्थात् जनता की नैतिक मृत्यु हो जाती है।

इन समस्त प्रमाणों का तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थ में जीत और हार का निर्णय करने के लिए प्रथम तो वेदों के जाननेवाले तीन व्यक्तियों की समिति हो, यदि समिति न बनाई जा सके तो पूर्ण वेद का जाननेवाला, पक्षपातरहित विद्वान् अध्यक्ष हो जो सर्वथा निष्पक्ष होकर निर्णय दे, अन्यथा वह अध्यक्ष भी पापी और शूद्र हो जाता है और सम्पूर्ण जनता की भी नैतिक मृत्यु हो जाती है।

अब वर्त्तमान युग में प्रथम तो चारों वेदों का विद्वान् अध्यक्ष मिलना कठिन है और फिर उसका पक्षपातशून्य होना तो और भी कठिन है, अतः आर्यसमाज इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वर्त्तमान युग में शास्त्रार्थों में जीत-हार के निर्णय के लिए किसी को अध्यक्ष बनाना उसे पापी और शूद्र तथा जनता को नैतिक मृत्यु की ओर धकेलने का पर्यायवाची है, अतः आर्यसमाज किसी भी शास्त्रार्थ में किसी व्यक्ति को शास्त्रार्थ के निर्णय का अध्यक्ष नियत नहीं करता, प्रत्युत केवल व्यवस्था का ही अध्यक्ष नियुक्त करता है। दोनों पक्षों के भाषणों को सुनकर जीत-हार का निर्णय वह जनता पर ही छोड़ देता है। इससे जनता को दोनों ओर के विचार सुनकर निर्णय करने का अवसर मिल जाता है, अन्यथा उपर्युक्त प्रकार का अध्यक्ष न मिलने की अवस्था में जनता को दोनों पक्ष के विचार सुनने का अवसर भी प्राप्त होना असम्भव है, क्योंकि ऐसी अवस्था में 'न नौ मन तेल हो, न राधा नाचे' लोकोक्ति के चरितार्थ होने पर न शास्त्रार्थ ही हो सकेंगे और न ही जनता को दोनों पक्षों के विचार सुनने का अवसर मिल सकेगा तथा दोनों पक्षों के विचार न सुनने के कारण जनता सत्य और झूठ का निर्णय करके सत्य को स्वीकार करने के योग्य न हो सकेगी।

इसलिए वर्त्तमान युग के शास्त्रार्थों में निर्णय करने के लिए अध्यक्ष नियुक्त करने के आर्यसमाज सर्वथा विरुद्ध है और व्यवस्थापक अध्यक्ष के पक्ष में है। यदि सनातनधर्म के आग्रह करने पर आर्यसमाज कभी शास्त्रार्थ में निर्णय के लिए किसी को अध्यक्ष स्वीकार कर भी लेता है तो इससे आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों को हानि पहुँचती है, क्योंकि अध्यक्ष महोदय ईमानदारी के साथ अपनी निष्पक्षता को स्थिर नहीं रख सकते और वे या तो इस प्रकार का निर्णय देते हैं जो सन्देहजनक शब्दों में लिखा गया हो, जिससे दोनों पक्ष प्रसन्न हो सकें और या ऐसा होता है कि वे सभा में तो केवल प्रबन्ध के लिए अध्यक्ष बनाये जाते हैं, परन्तु घर जाकर किसी एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे देते हैं और जिन लोगों को अध्यक्ष बनाया ही नहीं गया हो और वे घर पर आकर किसी एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे दें तो उनकी गिरावट का तो ठिकाना ही क्या हो सकता है! यदि ऐसे अध्यक्षों को हम बाज़ारी और इश्तिहारी अध्यक्ष भी कह दें तो कोई अनुचित नहीं है।

पोपजी महाराज ने जिन पाँच शास्त्रार्थों के निर्णयों को पुस्तक में अङ्कित किया है, उनमें

से एक शास्त्रार्थ तो हुआ ही नहीं, कल्पित ही लिख दिया गया है। एक शास्त्रार्थ का निर्णय अध्यक्ष महोदय ने सन्देहजनक शब्दों में लिखा हुआ है जिसे दोनों समुदाय अपने-अपने पक्ष में समझते हैं और एक शास्त्रार्थ ऐसा है जिसमें अध्यक्ष को केवल व्यवस्था करने के लिए नियत किया गया था, निर्णय के लिए नहीं, परन्तु उसने घर जाकर दूसरे समुदाय के पक्ष में विस्तृत निर्णय लिखकर दे दिया और दो शास्त्रार्थ ऐसे हैं जिनमें निर्णय लिखकर देनेवाले अध्यक्ष थे ही नहीं, प्रत्युत वे श्रोतामण्डली में सम्मिलित थे, परन्तु घर पर जाकर उन्होंने एक समुदाय के पक्ष में निर्णय लिखकर दे दिये।

भला! ऐसी अवस्थाओं में यदि यह अध्यक्षता की दुर्दशा नहीं तो और क्या है? इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सर्वथा ठीक हैं कि ये लोग अध्यक्ष बनने की योग्यता ही नहीं रखते, क्योंकि न तो इनमें से कोई वेदों का पूर्ण विद्वान् है और न ही ये लोग पक्षपात से ऊपर उठकर निष्पक्ष निर्णय ही दे सकते हैं। अब हम पुस्तक में उद्धृत पाँचों शास्त्रार्थों के निर्णयों की एक-एक करके पड़ताल करेंगे और पौराणिक पोपमण्डल की धिक्कार-योग और घृणित चालों का भण्डाफोड़ करते हैं, जिससे जनता सत्य और असत्य की जाँच करके सत्यमार्ग पर आरूढ़ हो सके।

पोपजी का छल-कपट—१

पोपजी ने 'स्वामी दयानन्द की प्रथम पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामी दयानन्दजी का राजा शिवप्रसादजी से 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं' इस विषय पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ और इसमें दोनों पक्षों ने डॉ० थीबो को निर्णय के लिए निर्णायक स्वीकार करके शास्त्रार्थ का मसौदा (प्रलेख) उनके पास भेज दिया और उन्होंने यह निर्णय दिया।

पाठक यह सुनकर चकित होंगे कि स्वामी दयानन्दजी का राजा शिवप्रसादजी के साथ न कभी शास्त्रार्थ हुआ और न ही डॉ० थीबो को निर्णायक निश्चित किया गया। शास्त्रार्थ तो कहाँ, स्वामीजी तो राजा शिवप्रसादजी को वार्त्तालाप करने के भी योग्य नहीं समझते थे। इस बात के प्रमाण में हम स्वामी दयानन्द द्वारा रचित ग्रन्थ 'भ्रमोच्छेदन' की भूमिका में से कुछ लेख उद्धृत कर रहे हैं—

"मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुनके चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व-समय में बहुत ऋषि-मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं?

"देखना चाहिए कि जैसा उनको मैं सुनता हूँ, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पाँच बार काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ कि कुछ वार्त्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४, गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्द-बाग में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल अल्काट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेष्टकी को मिलने के लिए आनन्द-बाग में आये। उन्होंने मुझसे मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मैडम से मिलना चाहता हूँ। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जब तक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये तब तक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूँ उनसे बातें हुईं, परन्तु

शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था, वैसा उनको न पाया। मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुन मैं भ्रम में पड़ गया।'

यहाँ बुद्धिमानों को विचारना चाहिए कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी के बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है? जबकि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवारपर्यन्त सवा चार मास, उनसे मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये? जब मेरी यात्रा सुनी तभी पत्र भेजके पत्रोत्तर क्यों चाहे? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाने पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीनेपर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिए पुस्तक छपवाकर काशी में और जहाँ-तहाँ भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ, किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है? भला! ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे?

ऐसे कपट-छल के व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति। तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥

अर्थ—(**यः**) जो (**अधर्मेण**) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे और उस भाषा के सच-झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे और कोई प्रतिवादी सत्य कहे, उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (**पृच्छति**) पूछता है (**च**) और (**यः**) जो (**अधर्मेण**) पूर्वोक्त प्रकार से (**प्राह**) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (**तयोः अन्यतरः**) पूछने वा उत्तर देनेवाले दोनों में से एक (**प्रैति**) मर जाता है (**वा**) अथवा (**विद्वेषम्**) अत्यन्त विरोध को (**अधिगच्छति**) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिखके उत्तर नहीं दिये तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूँ? —स्वामी दयानन्दरचित भ्रमोच्छेदन

इस लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी का राजा शिवप्रसादजी से कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ और न किसी को अध्यक्ष या निर्णायक माना गया। जब राजा साहब उद्यान में कर्नल साहब और मैडम को मिलने गये और स्वामीजी ने उन्हें राजासाहब के आने की सूचना दी, जब तक कर्नल साहब आकर राजा साहब को उठाकर अपने साथ ले-गये, तब तक कुछ मिनट राजा साहब का स्वामीजी से वार्त्तालाप हुआ। इसके पश्चात् सवा चार मास तक कोई वार्त्तालाप नहीं हुआ। जब स्वामीजी ने यात्रा की तैयारी कर ली तब राजा साहब ने प्रश्न लिखकर स्वामीजी के पास भेजे। स्वामीजी ने उनके लिखित उत्तर देना उचित न समझकर राजा साहब को उत्तर सुनने के लिए मनुष्य भेजकर अपने पास बुलवाया, परन्तु

राजा साहब उत्तर सुनने के लिए नहीं आये और स्वामीजी के प्रस्थान करने के पश्चात् राजा साहब ने अपनी ओर से ही शास्त्रार्थ का मसौदा (प्रालेख) बनाकर और उसपर थीबो साहब, प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज बनारस और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्री के हस्ताक्षर करवाकर और उनसे समर्थन में सम्मति लिखवाकर पुस्तक प्रकाशित की। जब वह पुस्तक स्वामीजी को मिली तब स्वामीजी ने इसके उत्तर में भ्रमोच्छेदन पुस्तक प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में आगे चलकर पुनः लिखा है—

"**प्रश्न**—आपने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिखकर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जानकर लिखके उत्तर न देना चाहा था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखवाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।"

इस लेख से सिद्ध है कि स्वामीजी राजा साहब को तो पूर्णरूप से इस योग्य नहीं समझते थे कि उनके प्रश्नों का उत्तर दिया जाए, परन्तु चूँकि स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति उसपर अङ्कित थी, अतः स्वामीजी ने भ्रमोच्छेदन के रूप में इन प्रश्नों के उत्तर लिखे। इसके पश्चात् राजा साहब ने जो पुस्तक भ्रमोच्छेदन के उत्तर में लिखी, उसमें चूँकि स्वामी विशुद्धानन्द या बालशास्त्री के हस्ताक्षर नहीं थे, अतः स्वामीजी ने उसका उत्तर नहीं दिया, प्रत्युत पं० भीमसेनजी इटावा-निवासी ने उनका उत्तर 'अनुभ्रमोच्छेदन' पुस्तक के नाम से दिया। पाठकगण 'भ्रमोच्छेदन' और 'अनुभ्रमोच्छेदन' दोनों पुस्तकों को पढ़कर विस्तृत वृत्तान्त की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि राजा शिवप्रसादजी का स्वामी दयानन्दजी महाराज से कोई शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं। यह सब पौराणिक पोपमण्डल का छल-कपट और धोखेबाज़ी ही है। जब शास्त्रार्थ ही नहीं हुआ तो अध्यक्ष के निर्णय का जाली (बनावटी, कल्पित) होना स्पष्ट सिद्ध है।

रही यह बात कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं', सो इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का पक्ष सुदृढ़ है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ वेदों का ऋषिकृत भाष्य हैं', जो स्वतःप्रमाण नहीं, अपितु परतःप्रमाण हैं, स्वतःप्रमाण केवल मन्त्रभाग—मूलसंहिता ही हैं और उन्हीं का नाम वेद है, ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद नहीं है। इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में जो प्रबल युक्ति और प्रमाण दिये हैं, उनका आज तक कोई उत्तर नहीं दे सका। हम संसारभर के पौराणिक पोपमण्डल को चैलैञ्ज करते हैं कि वे मैदान में आकर ब्राह्मणग्रन्थों को वेद सिद्ध करके दिखाएँ।

अन्त में हम जनता के सन्तोष के लिए केवल वेदों के महाविद्वान् दो ऋषियों की सम्मति अङ्कित कर देते हैं। महर्षि पतञ्जलि ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

[1]**चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानीति॥**

—महाभाष्य ५.१.१

अर्थ—चारों वेदों को जाननेवाले महर्षियों ने जो वेदों का भाष्य किया है, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

यास्कमुनि निरुक्त में लिखते हैं—

यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति उदितानुवादः स भवति॥

—निरुक्त १.५.१६

१. ग्रन्थ में आगे-पीछे बहुत खोजने पर भी यह प्रमाण हमें नहीं मिला। —सं०

अर्थ—चूँकि वेदों के अर्थ ब्राह्मणों में पाये जाते हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद का भाष्य ही हैं।

पोपजी का छल-कपट—२

पोपजी ने 'आर्यसमाज की दूसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत वज़ीराबाद का वह शास्त्रार्थ दिया है, जो श्राद्धविषय में सनातनधर्म और आर्यसमाज के मध्य हुआ था और जिसमें दोनों पक्षों ने मैक्समूलर को मध्यस्थ मानकर उनसे निर्णय प्राप्त किया था। पोपजी ने उस निर्णय में से वे पंक्तियाँ निकाल दी हैं जोकि आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त के पक्ष में हैं। आर्यसमाज का यह दावा है कि मृत पितरों के नाम से ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन पितरों को नहीं मिलता। इसके विरुद्ध सनातनधर्म का यह दावा है कि मृत पितर स्वयं मानव-शरीर धारण करके ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं और गरुडपुराण में यह सिद्ध किया गया है कि वे पतिर महारानी सीता ने देखे।

पाठक यह पढ़कर चकित होंगे कि जिस मैक्समूलर के निर्णय को लेकर सनातनधर्मी बल्लियों उछल रहे हैं, वह निर्णय सनातनधर्म की मान्यता का प्रबल खण्डन करता है और आर्यसमाज के पक्ष में है। हमारे सामने इस समय शास्त्रार्थ की मुद्रित मूल प्रति विद्यमान है, जिसे पण्डित गणेशदत्तजी ने लिखा है और पं० ब्रजनाथ शर्मा सारस्वत, अध्यक्ष श्री सनातनधर्म ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, आगरा ने प्रकाशित किया है। यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। हम इस पुस्तक में से मैक्समूलर साहब की मूल प्रति पहले अंग्रेजी में उद्धृत कर देते हैं और फिर इसका अनुवाद करके इसकी वास्तविकता को पाठकों के समक्ष प्रकट करते हैं। आप तनिक ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

COPY

Mr. Friends, Oxford, 13th September 1896

My hair has long ago turned white and I have seen the children of my children. I have, therefore, the right to become a Vanaprastha, nay to enter the Ashrama of Sannyasa. But though I long for rest and peace, I received so many letters, not only from England, France, Germany, Italy but from America and particularly from India, that I should literally have no time left to myself the whole day, if I were to attempt to answer them all. Still, when I received your first letter, I read it carefully and even began to answer it, but afterwards I could not find it again, it had disappeared among my many papers, or some friends of mine to whom I had shown it, must have carried it away. I confess, however, that I felt at the time what I feel even now, that you with your intimate knowledge of the Shastras, are far better judges than I am as to the original purpose of the Shraddha. You find something like your Shraddha among other Aryan nations also. In fact ancestor-worship is found among other nations also, who do not speak Aryan languages. It arose simply from a very natural human feeling to give up something that is dear to us, to those who were dear to us and are no longer among us, just as the bow and sacrificial vessals were thrown on the funeral piles to be burnt with the body of the deceased. The question whether the departed would come back to take and eat the Pindas was never asked. It was enough to have given them and thus to have honoured the memory of our parents, grand-parents and great-grand-parents. As these offerings were made originally at times when the remaining members of a family were gathered at a

का ही अंग्रेजी अनुवाद कर दिया है। अपनी अयोग्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं, जब वे लिखते हैं कि ''आप लोगों अर्थात् भारतवासियों (जिनमें आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों सम्मिलित हैं) को शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है और आप श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य को समझने में अधिक योग्य हैं।'' और हम मनुस्मृति (१२।११३) के अनुसार यह सिद्ध कर चुके हैं कि चारों वेदों का पूर्ण पण्डित ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय दे सकता है, अतः मैक्समूलर का यह पत्र धर्म और अधर्म का निर्णय करने में अक्षम है।

३. मैक्समूलर लिखता है कि मुझे वानप्रस्थ और संन्यास लेने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। सनातनधर्म यह मानता है कि संन्यास ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं ले-सकता। तो क्या सनातनधर्म मैक्समूलर को ब्राह्मण स्वीकार करता है? यदि नहीं तो उपर्युक्त लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन करता है और आर्यसमाज के सर्वमान्य सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था का मण्डन करता है।

४. मैक्समूलर लिखता है कि—'वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं।' सनातनधर्म ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी को श्राद्ध के भोजन आदि वस्तुओं का अधिकारी नहीं समझता; तो क्या सनातनधर्मी मैक्समूलर को ब्राह्मण समझकर उसके पास श्राद्ध की वस्तुएँ भेजते रहते हैं? यदि नहीं तो फिर क्या यह लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन नहीं कर रहा और क्या आर्यसमाज के सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था का मण्डन नहीं कर रहा?

५. सनातनधर्म का पक्ष यह है कि मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन पितरों को मिलता है और आर्यसमाज का पक्ष यह है कि मरे हुओं को कभी इस लोक के श्राद्ध आदि का फल व खीर-पूरी नहीं पहुँचती, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'यह श्राद्ध केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानवप्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए ही है और इसका उद्देश्य इतना ही है कि अपने प्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए मृतक पितरों के लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता और दादा-परदादा की स्मृति बनाई जाए।' उसने उदाहरण देकर बताया है कि जैसे मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर श्राद्ध की वस्तुओं का मुर्दों को पहुँचना नहीं मानता, अपितु वह श्राद्ध को केवल स्मृति ही मानता है। वह मानता है कि जैसे मृतक के शव के साथ जलाये हुए धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र मृत-आत्मा को नहीं पहुँचते, प्रत्युत केवल प्रेम की भावना को प्रकट करना है। इसी प्रकार मृत-आत्माओं के लिए दी हुई वस्तुएँ उन्हें पहुँचती नहीं, प्रत्युत यह भी केवल मानव-प्रेम की स्वाभाविक भावना का प्रकटीकरण है। यह सारा लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन और आर्यसमाज के सिद्धान्त का प्रबल पोषण करता है।

६. सनातनधर्म मानता है कि मृत-आत्माएँ वापस आकर निमन्त्रित ब्राह्मणों के शरीरों में वायुरूप से प्रविष्ट होकर और स्वयं मानव-शरीर धारण करके भी श्राद्ध में दिये हुए भोजन को खा जाती हैं और कि सीता ने श्राद्ध में दशरथ को खाते हुए स्वयं देखा। आर्यसमाज मानता है कि यह सब पाखण्ड है। आत्माएँ शरीरों से निकलने के पश्चात् दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं। इनका भोजन के लिए आना असम्भव है। मैक्समूलर लिखता है कि 'यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं?' और मैक्समूलर इन विचारों को अन्धविश्वास बताता है और कहता है कि 'इन अन्ध-विश्वासों से ही लोगों में शंका व सन्देह उत्पन्न हो गया और विरोधियों ने विरोध

अर्थ—चूँकि वेदों के अर्थ ब्राह्मणों में पाये जाते हैं, अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद का भाष्य ही हैं।

पोपजी का छल-कपट—२

पोपजी ने 'आर्यसमाज की दूसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत वज़ीराबाद का वह शास्त्रार्थ दिया है, जो श्राद्धविषय में सनातनधर्म और आर्यसमाज के मध्य हुआ था और जिसमें दोनों पक्षों ने मैक्समूलर को मध्यस्थ मानकर उनसे निर्णय प्राप्त किया था। पोपजी ने उस निर्णय में से वे पंक्तियाँ निकाल दी हैं जोकि आर्यसमाज के आधारभूत सिद्धान्त के पक्ष में हैं। आर्यसमाज का यह दावा है कि मृत पितरों के नाम से ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन पितरों को नहीं मिलता। इसके विरुद्ध सनातनधर्म का यह दावा है कि मृत पितर स्वयं मानव-शरीर धारण करके ब्राह्मणों में बैठकर भोजन कर जाते हैं और गरुडपुराण में यह सिद्ध किया गया है कि वे पतिर महारानी सीता ने देखे।

पाठक यह पढ़कर चकित होंगे कि जिस मैक्समूलर के निर्णय को लेकर सनातनधर्मी बल्लियों उछल रहे हैं, वह निर्णय सनातनधर्म की मान्यता का प्रबल खण्डन करता है और आर्यसमाज के पक्ष में है। हमारे सामने इस समय शास्त्रार्थ की मुद्रित मूल प्रति विद्यमान है, जिसे पण्डित गणेशदत्तजी ने लिखा है और पं० ब्रजनाथ शर्मा सारस्वत, अध्यक्ष श्री सनातनधर्म ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, आगरा ने प्रकाशित किया है। यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। हम इस पुस्तक में से मैक्समूलर साहब की मूल प्रति पहले अंग्रेजी में उद्धृत कर देते हैं और फिर इसका अनुवाद करके इसकी वास्तविकता को पाठकों के समक्ष प्रकट करते हैं। आप तनिक ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए—

COPY

Mr. Friends, Oxford, 13th September 1896

My hair has long ago turned white and I have seen the children of my children. I have, therefore, the right to become a Vanaprastha, nay to enter the Ashrama of Sannyasa. But though I long for rest and peace, I received so many letters, not only from England, France, Germany, Italy but from America and particularly from India, that I should literally have no time left to myself the whole day, if I were to attempt to answer them all. Still, when I received your first letter, I read it carefully and even began to answer it, but afterwards I could not find it again, it had disappeared among my many papers, or some friends of mine to whom I had shown it, must have carried it away. I confess, however, that I felt at the time what I feel even now, that you with your intimate knowledge of the Shastras, are far better judges than I am as to the original purpose of the Shraddha. You find something like your Shraddha among other Aryan nations also. In fact ancestor-worship is found among other nations also, who do not speak Aryan languages. It arose simply from a very natural human feeling to give up something that is dear to us, to those who were dear to us and are no longer among us, just as the bow and sacrificial vessals were thrown on the funeral piles to be burnt with the body of the deceased. The question whether the departed would come back to take and eat the Pindas was never asked. It was enough to have given them and thus to have honoured the memory of our parents, grand-parents and great-grand-parents. As these offerings were made originally at times when the remaining members of a family were gathered at a

meal, the living also partook of the measl offered, or distributed them to worthy people,. Hence the Shraddha was both for the departed and for the survivors. Very soon however, superstition came on and people persuaded themselves that the departed spirits returned in a bodily shape to earth, to partake the offerings and then the scoffers began to say that those Shraddhas were absured because the departed spirits were never seen to consume them or benefit by them. In this way superstition always creats the scepticism of the Nastiks.

You get a very good definition of Shraddha in the Nirnay Sindhu. There Marichi says—

प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः। श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

In the same place it is stated that the Yajur Vedas looked upon the Shraddha as Pind-danam, the Rig Vedas as Dvijarchan, Sama Vedas as both—

यजुषां पिण्डदानं तु बह्वृचानां द्विजार्चनम्। श्राद्धशब्दाभिधेयं स्यादुभयं सामवेदिनाम्॥

I hold that in this case the Sama Vedas were right and that the Shraddha was meant both as an honourable offering to the mritas, and as an honour to the living, particularly of the dwijas who came to assist at the Shraddhas. These gifts should be bestowed on near relatives and friends, and I myself, as having studied the Vedas, have frequently received such Shraddha gifts from India, though I was not born in Aryavarta. Now I must close my letter being very busy, and I remain your friend and very distant Sapinda. —(Sd.) F. MaxMuller

अनुवाद

मेरे मित्रो! आक्सफोर्ड, १३ सितम्बर सन् १८९६

पर्याप्त समय से मेरे बाल सफेद हो चुके हैं और मैंने अपने पुत्रों के पुत्र अर्थात् पौत्र भी देख लिये हैं, अतः मुझे वानप्रस्थ बनने अपितु संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो चुका है। यद्यपि मैं विश्राम और शान्ति के साथ जीवन-यापन करने का इच्छुक हूँ, परन्तु मेरे पास इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, प्रत्युत अमेरिका और विशेषकर भारत से इतने पत्र प्राप्त हुए हैं कि यदि मैं उन सबका उत्तर देने लगूँ तो यथार्थ में मुझे दिनभर में किसी अन्य कार्य के लिए एक क्षणभर भी न मिले। फिर भी जब मुझे आपका प्रथम पत्र मिला तो मैंने उसे बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा और उसका उत्तर देना भी आरम्भ किया, परन्तु बाद में वह पत्र मेरे हाथ में नहीं आया; या तो वह मेरे बहुत-से पत्रों में इधर-उधर हो गया अथवा मेरा कोई मित्र, जिसे मैंने वह दिखाया था, अपने साथ ही ले-गया होगा।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने उस समय भी अनुभव किया था और अब भी अनुभव करता हूँ कि आप लोग जिन्हें शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है, श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य के सम्बन्ध में निर्णय देने में अधिक योग्य हैं। आपके श्राद्ध-जैसी प्रथा अन्य आर्यजातियों में भी पाई जाती है। वस्तुतः दूसरी जातियों में भी जो आर्यन भाषाएँ नहीं बोलतीं, अपने पूर्वजों की पूजा (आदर-सत्कार) की प्रथा पाई जाती है। यह प्रथा केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानव-मनोवृत्ति से प्रचलित हुई थी कि अपने सबसे प्रिय व्यक्ति को, जो जीवित न हों, अपनी प्रिय वस्तुओं में से कुछ-न-कुछ दिया जाए, फलस्वरूप इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ उन वस्तुओं को ग्रहण करने और पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं। बस, यही पर्याप्त समझा जाता था कि उनके लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता, दादा और परदादाओं की स्मृति को अक्षुण्ण रखा

जाए। चूँकि आरम्भ में यह भेंट या दानकर्म उस समय किये जाते थे, जब शेष जीवित सम्बन्धी भोजन करने के लिए एकत्र होते थे, उस समय जीवित मनुष्य भी दान किये हुए भोजन में से कुछ खाते थे अथवा वह अन्य योग्य व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था। इस प्रकार श्राद्ध जीवित और मृतक दोनों के लिए था। कुछ ही समय पश्चात् लोगों में अन्धविश्वास फैल गये और लोगों ने यह समझना आरम्भ कर दिया कि मृत-आत्माएँ मानवरूप में संसार में वापस आती हैं और दान में दी गयी वस्तुओं का उपभोग करती हैं। इसपर विरोधियों ने कहना आरम्भ किया कि यह श्राद्ध बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि कभी किसी ने मृतक आत्माओं को खाते अथवा प्रस्तुत किये हुए भोजनों से लाभ उठाते हुए नहीं देखा। अन्धविश्वासों से नास्तिकों में शङ्का व सन्देह सदा इसी प्रकार उत्पन्न हुआ करते हैं। 'निर्णय-सिन्धु' पुस्तक में श्राद्ध की अत्युत्तम परिभाषा की गयी है। इसमें मरीचि कहता है—**प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य**—इत्यादि।

इसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि यजुर्वेदी श्राद्ध से तात्पर्य पिण्डदान लेते हैं, ऋग्वेदी इसे ब्राह्मण-पूजा समझते हैं और सामवेदी दोनों ही....**यजुषां पिण्डदानं तु**—इत्यादि।

मेरी सम्मति में सामवेदियों का विचार ठीक है और श्राद्ध के दोनों ही अर्थ थे, अर्थात् एक तो मृतकों के लिए सम्मानपूर्वक दान और जीवितों का विशेषकर श्राद्ध में सहायता देनेवाले द्विजों का सम्मान। इस प्रकार का दान निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, अतः वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं, यद्यपि मैं आर्यावर्त में उत्पन्न नहीं हुआ हूँ।

चूँकि मुझे अवकाश कम है, अतः अब मैं इस पत्र को समाप्त करता हूँ। मैं हूँ आपका मित्र और दूरस्थ सपिण्ड।

हस्ताक्षर—**मैक्समूलर**

पाठक महाशय! यह है वह अंग्रेजी पत्र और उसका अनुवाद। आपको ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि पोपजी ने कितने ही स्थानों पर तो इसके अनुवाद में तोड़-मरोड़ की है और दो स्थानों पर तो पोपजी ने पंक्तियों-की-पंक्तियाँ लुप्त कर दी हैं, इसलिए कि वे पोपजी के अभीष्ट के सर्वथा विरुद्ध थीं। यह पत्र पोपजी ने अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है, परन्तु यह पत्र न केवल मृतकश्राद्ध का ही खण्डन करता है, अपितु सनातनधर्म के और भी बहुत-से सिद्धान्तों का खण्डन करता है। न जाने अपनी इस मृत्यु को पोपजी ने जीवन कैसे समझ लिया? अब तनिक इस पत्र पर बुद्धिपूर्वक चिन्तन करें।

१. इस पत्र को निर्णय का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह पत्र उस आधार पर नहीं लिखा गया जो लेख दोनों पक्षों की ओर से मैक्समूलर के पास भेजे गये थे, क्योंकि निर्णय करनेवाले न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य होता है कि वह जिसके पक्ष में निर्णय दे उसके विरोधी पक्ष के तर्कों का अपने निर्णय में खण्डन करे। इस पत्र में किसी भी पक्ष के तर्कों का खण्डन नहीं किया गया और वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि 'वे पत्र जो दोनों पक्षों की ओर से भेजे गये थे, गुम हो चुके हैं।' अतः यह पत्र मैक्समूलर की व्यक्तिगत सम्मति मानी जा सकती है, इसे निर्णय का नाम नहीं दिया जा सकता।

२. मैक्समूलर को शास्त्रार्थ का मध्यस्थ स्वीकार करना सनातनधर्म और आर्यसमाज की एक बहुत बड़ी ग़लती थी, क्योंकि मैक्समूलर में यह योग्यता ही न थी कि वह वेदों और शास्त्रों के सिद्धान्त पर कोई निर्णय दे सके। वह वेदों का विद्वान् नहीं था। उसने वेदों का जो अंग्रेजी में अनुवाद किया है वह केवल सायणाचार्य और महीधर, उव्वट आदि के भाष्यों

का ही अंग्रेजी अनुवाद कर दिया है। अपनी अयोग्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं, जब वे लिखते हैं कि "आप लोगों अर्थात् भारतवासियों (जिनमें आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों सम्मिलित हैं) को शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान है और आप श्राद्ध के मौलिक उद्देश्य को समझने में अधिक योग्य हैं।" और हम मनुस्मृति (१२।११३) के अनुसार यह सिद्ध कर चुके हैं कि चारों वेदों का पूर्ण पण्डित ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय दे सकता है, अतः मैक्समूलर का यह पत्र धर्म और अधर्म का निर्णय करने में अक्षम है।

३. मैक्समूलर लिखता है कि मुझे वानप्रस्थ और संन्यास लेने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। सनातनधर्म यह मानता है कि संन्यास ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं ले-सकता। तो क्या सनातनधर्म मैक्समूलर को ब्राह्मण स्वीकार करता है? यदि नहीं तो उपर्युक्त लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन करता है और आर्यसमाज के सर्वमान्य सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था का मण्डन करता है।

४. मैक्समूलर लिखता है कि—'वेदपाठी होने के कारण स्वयं मुझे भी भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर प्राप्त होती रहती हैं।' सनातनधर्म ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी को श्राद्ध के भोजन आदि वस्तुओं का अधिकारी नहीं समझता; तो क्या सनातनधर्मी मैक्समूलर को ब्राह्मण समझकर उसके पास श्राद्ध की वस्तुएँ भेजते रहते हैं? यदि नहीं तो फिर क्या यह लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन नहीं कर रहा और क्या आर्यसमाज के सिद्धान्त गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था का मण्डन नहीं कर रहा?

५. सनातनधर्म का पक्ष यह है कि मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को कराया हुआ भोजन पितरों को मिलता है और आर्यसमाज का पक्ष यह है कि मरे हुओं को कभी इस लोक के श्राद्ध आदि का फल व खीर-पूरी नहीं पहुँचती, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'यह श्राद्ध केवल इस अत्यन्त स्वाभाविक मानवप्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए ही है और इसका उद्देश्य इतना ही है कि अपने प्रेम की भावना को प्रकट करने के लिए मृतक पितरों के लिए कुछ अर्पण करके अपने माता-पिता और दादा-परदादा की स्मृति बनाई जाए।' उसने उदाहरण देकर बताया है कि जैसे मृतक के शव के साथ धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र भी चिता पर जला दिये जाते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर श्राद्ध की वस्तुओं का मुर्दों को पहुँचना नहीं मानता, अपितु वह श्राद्ध को केवल स्मृति ही मानता है। वह मानता है कि जैसे मृतक के शव के साथ जलाये हुए धनुष-बाण और यज्ञ के पात्र मृत-आत्मा को नहीं पहुँचते, प्रत्युत केवल प्रेम की भावना को प्रकट करना है। इसी प्रकार मृत-आत्माओं के लिए दी हुई वस्तुएँ उन्हें पहुँचती नहीं, प्रत्युत यह भी केवल मानव-प्रेम की स्वाभाविक भावना का प्रकटीकरण है। यह सारा लेख सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन और आर्यसमाज के सिद्धान्त का प्रबल पोषण करता है।

६. सनातनधर्म मानता है कि मृत-आत्माएँ वापस आकर निमन्त्रित ब्राह्मणों के शरीरों में वायुरूप से प्रविष्ट होकर और स्वयं मानव-शरीर धारण करके भी श्राद्ध में दिये हुए भोजन को खा जाती हैं और कि सीता ने श्राद्ध में दशरथ को खाते हुए स्वयं देखा। आर्यसमाज मानता है कि यह सब पाखण्ड है। आत्माएँ शरीरों से निकलने के पश्चात् दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं। इनका भोजन के लिए आना असम्भव है। मैक्समूलर लिखता है कि 'यह प्रश्न तो कभी किया ही नहीं जाता था कि क्या मृत-आत्माएँ पिण्डों को खाने के लिए वापस आती हैं?' और मैक्समूलर इन विचारों को अन्धविश्वास बताता है और कहता है कि 'इन अन्ध-विश्वासों से ही लोगों में शंका व सन्देह उत्पन्न हो गया और विरोधियों ने विरोध

आरम्भ कर दिया कि यह श्राद्ध सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि कभी किसी ने मृत-आत्माओं को खाते या प्रस्तुत किये जानेवाले भोजनों से लाभ उठाते नहीं देखा' और वह लिखता है कि 'ऐसे अन्धविश्वास से शंका व सन्देह उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है।' इन लेखों से स्पष्टरूप से सनातनधर्म की मान्यताओं का खण्डन और आर्यसमाज की मान्यताओं का मण्डन होता है।

७. सनातनधर्म का यह सिद्धान्त है कि श्राद्ध मृतकों के निमित्त ही हो सकता है और आर्यसमाज का यह सिद्धान्त है कि श्राद्ध जीवितों का ही हो सकता है, परन्तु मैक्समूलर का कहना है कि 'चूँकि ये दान आरम्भ में उस समय किये जाते थे जब शेष जीवित सदस्य भोजन करने के लिए एकत्र होते थे तो जीवित लोग भी दान किये हुए भोजन में से कुछ खाते थे अथवा अन्य योग्य व्यक्तियों में बाँट दिया जाता था, अतः श्राद्ध जीवित और मृतक दोनों के लिए था।' और फिर मैक्समूलर लिखते हैं कि 'और श्राद्ध के दोनों ही तात्पर्य थे अर्थात् एक तो मृतकों के लिए आदरपूर्वक दान और जीवितों का विशेषकर श्राद्ध में सहायता देनेवाले द्विजों का सत्कार।' इन लेखों से सिद्ध है कि मैक्समूलर जीवित और मृत दोनों के लिए श्राद्ध स्वीकार करता है। इनमें जीवितों को तो खाना खिलाना मानता है और मृतकों की स्मृति के लिए दान मानता है, मृतकों को पहुँचना नहीं मानता, अतः मैक्समूलर का यह लेख आर्यसमाज का समर्थन और सनातनधर्म का स्पष्ट खण्डन करता है।

८. सनातनधर्म यह मानता है कि श्राद्धों में ब्राह्मणों को ही खाना खिलाना या दान देना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण के मुखरूप हवनकुण्ड में डाले हुए पदार्थ मृत पितरों को मिलते हैं और आर्यसमाज यह मानता है कि जीवित पितरों अर्थात् माता-पिता, दादा, परदादा, साधु-महात्मा लोग जोकि ज्ञान, बल और भोजन से हमारी रक्षा करते हैं उनका भोजन आदि से सत्कार करना ही श्राद्ध है, परन्तु मैक्समूलर लिखता है कि 'इस प्रकार का दान आदि निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, इसलिए स्वयं मुझे भी वेदपाठी होने के कारण भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ प्रायः समय-समय पर मिलती रहती हैं, यद्यपि मैं आर्यावर्त में उत्पन्न नहीं हुआ हूँ।' यह लेख भी स्पष्ट रूप से आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन और सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

निष्कर्ष यह कि इस पत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता लगता है कि मैक्समूलर श्राद्ध को मृतकों के प्रति मनुष्य के स्वाभाविक प्रेम की भावना का प्रकटीकरण मानता है और श्राद्ध में मृत-आत्माओं के खाने या लाभ उठाने को अन्धविश्वास बतलाता है तथा जीवितों को भोजन कराने को भी श्राद्ध स्वीकार करता है। परिणाम यह कि आर्यसमाज दीपावली के दिन ऋषि दयानन्द की मृत्यु का दिन मनाए और इसमें स्मृति के रूप में उत्सव करके ऋषि दयानन्द की प्रशंसा में व्याख्यान दिये जाएँ और इसमें प्रीतिभोज भी किया जाए तो मैक्समूलर के विचार में यही श्राद्ध है, न कि दयानन्द की आत्मा को कुछ पहुँचना या पहुँचाया जाना, अतः मैक्समूलर का पत्र सोलह आने आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन और सनातनधर्म के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

यह लेख आर्यसमाज के पक्ष में है, इस बात का एक बड़ा भारी प्रमाण यह भी है कि पोपजी ने इस लेख से कई पंक्तियों को निकाल दिया है। यदि यह लेख सनातनधर्म के विरुद्ध न होता तो इसमें से कई पंक्तियों को लुप्त कर देने की क्या आवश्यकता थी? पोपजी ने जो अंश इस लेख में से निकाला है, वह यह है—

१. मूलपत्र में लिखा है कि 'इसलिए श्राद्ध जीवितों और मृतकों—दोनों के लिए था', परन्तु पोपजी ने लिखा है कि 'इसलिए श्राद्ध मरे हुए पूर्वजों का स्थिर हुआ।'

२. मूलपत्र में यह लेख विद्यमान है कि 'थोड़ा ही समय व्यतीत होने के पश्चात् लोगों में ये अन्धविश्वास फैल गये और वे यह समझने लगे कि मृत-आत्माएँ मानवरूप में संसार में वापस आती हैं और उन वस्तुओं को खाती हैं', परन्तु पोपजी ने लिखा है कि 'थोड़े ही समय के पश्चात् अन्धविश्वास पैदा हो गये और लोगों का यह विश्वास जाता रहा कि प्रेत मानव-शरीर में संसार में पिण्ड आदि वस्तुओं को खाने के लिए आते हैं।'

३. मूलपत्र में यह लेख विद्यमान है कि 'इस प्रकार का दान निकट सम्बन्धियों और मित्रों को दिया जाता था, परिणामस्वरूप स्वयं मुझे भी वेदपाठी होने के कारण भारत से श्राद्ध की वस्तुएँ समय-समय पर प्राप्त होती रही हैं, यद्यपि मेरा जन्म आर्यावर्त में नहीं हुआ है।' पोपजी ने इस सारे अंश को श्राद्ध की खीर की भाँति पचा लिया है और पुस्तक में नहीं दिया है। मूलपत्र की भाषा में हेरा-फेरी करने और कुछ मूल अंश को न लिखने से स्पष्ट सिद्ध है कि पोपजी का आत्मा इस बात को मानता है कि यह लेख आर्यसमाज के सिद्धान्त का समर्थन करता है और सनातनधर्म के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन करता है।

अब हम प्रो० मैक्समूलर की आर्यसमाज के सम्बन्ध में सम्मति नीचे अङ्कित करते हैं जिससे पाठकों को पता लगेगा कि वे स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को क्या समझते थे—

"स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन का सब वृत्तान्त हमें ज्ञात है। उन्होंने हिन्दूधर्म के सुधार का बीड़ा उठाया था और जहाँ तक सामाजिक सुधार व कल्याण का सम्बन्ध है वे उदारहृदय महामानव थे। उनका पूरा विश्वास वेदमन्त्रों पर था।"

"उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत भाष्य प्रकाशित किया है जिससे उनके उच्च संस्कृतज्ञान तथा विस्तृत स्वाध्याय का पता लगता है। वे विधवाओं के पुनर्विवाह को वैध बताते थे और लड़के-लड़कियों के विवाह की आयु-सीमा बढ़ाने का समर्थन करते थे। जातिबन्धन, खान-पान आदि सब अन्धविश्वासों से अपने-आपको सर्वथा स्वतन्त्र प्रकट करते थे। उन्होंने मूर्त्तिपूजा और बहुविवाह का भी खण्डन किया। उनका कार्य योरुप में उस समय से अधिक प्रसिद्ध हो गया जब से वे मैडम ब्लेवेस्टकी के बिछाये हुए जाल में फँस गये थे, परन्तु यह अवस्था बहुत थोड़े समय ही रही और जब स्वामीजी ने उसके वास्तविक अभिप्राय को भाँप लिया तो उन्होंने उससे भविष्य के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया।"

"वे एक बहुत बड़े शास्त्रार्थ-महारथी थे। उनका प्रभाव-क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला गया। यहाँ तक कि उनके विरोधी और ब्राह्मण अपने भयङ्कर शत्रु को विष देने के अपराध में संदिग्ध माने गये। वे सहसा ही मृत्यु को प्राप्त हो गये, परन्तु उनके अनुयायी जिनका सामूहिक नाम आर्यसमाज है, अब भी भारत में एक बहुत महत्त्वपूर्ण और उन्नतिशील समाज है जो सभी योरुपीय प्रभावों से बचा रहता है।"

"स्वामी दयानन्द एक विद्वान् पुरुष थे, जो अपने देश के धार्मिक साहित्य से पूर्णरूप से परिचित थे। उनके धार्मिक सिद्धान्तों की आधारशिला ईश्वरकृत वेदों पर थी। उन्हें वेद कण्ठस्थ थे। उनके मन और मस्तिष्क में वेदों ने घर किया हुआ था।"

—मैक्समूलर—ग्रेट मैन ऑफ दि ईस्ट

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मैक्समूलर मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध आदि प्रथाओं को वेद के विरुद्ध और अन्धविश्वास मानते थे, अतः वे मृतकश्राद्ध के पक्ष में नहीं थे, अपितु विरुद्ध थे और स्वामी दयानन्दजी के विचारों को वेदानुकूल मानते थे।

पोपजी का छल-कपट—३

पोपजी ने 'आर्यसमाज की तीसरी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत नैरोबी (अफरीका) का वह शास्त्रार्थ दिया है जोकि आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य मूर्त्तिपूजा-विषय पर हुआ था, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पं० बालकृष्णजी और सनातनधर्म की ओर से पं० माधवाचार्यजी थे। पोपजी लिखते हैं कि इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज ने निर्णय करने के लिए ऑनरेबल मि० अहमद हसन एम०एल०सी० नैरोबी को मध्यस्थ नियत किया था, जिन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध निर्णय दिया। यह शास्त्रार्थ १९२७ में हुआ था।

पोपजी ने इस लेख में सोलह आने छल-कपट से काम लिया है, क्योंकि इस शास्त्रार्थ में ऑनरेबल मि० अहमद हसन को मध्यस्थ बनाया ही नहीं गया, प्रत्युत वे शास्त्रार्थ आरम्भ होने के पश्चात् उत्सव स्थल में पहुँचे थे। उन्होंने शास्त्रार्थ भी पूरा नहीं सुना। शास्त्रार्थ समाप्त होने के पश्चात् सनातनधर्मी उनके मकान पर गये और उनसे सम्मति माँगी। उन्होंने अपनी जो लिखित सम्मति सनातनधर्मियों को दी थी, उसकी एक प्रति 'प्रधान, आर्यसमाज नैरोबी' को भी भेज दी, परन्तु पौराणिक पोपमण्डल की गद्दारी (आत्मविक्रय) देखिए कि वह सम्मति भी हूबहू अपनी पुस्तक में अङ्कित नहीं की, अपितु उसे काट-छाँटकर अपने प्रयोजन की बनाकर पुस्तक में लिखी गयी है। हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे इस बात को सिद्ध करें कि इस शास्त्रार्थ का मध्यस्थ मि० अहमद हसन को बनाया गया था और कि उसने कोई निर्णय भी दिया था और हमारी ओर से अङ्कित किये गये विस्तृत खण्डनात्मक विवरण और व्यवस्था-पत्र का खण्डन करने के लिए मैदान में आएँ—

१. लाला मथुरादासजी आर्य, आर्यसमाज नैरोबी (अफरीका) के जोशीले सदस्य, वर्त्तमान में लुधियाना में स्थित, ने वर्णन किया कि हमने कभी शास्त्रार्थ में किसी अन्य मतावलम्बी को अध्यक्ष नहीं बनाया। इस पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' में जो कुछ भी लिखा गया है वह सरासर ग़लत है, क्योंकि सन् १९२७ के शास्त्रार्थ के अध्यक्ष बाबू बद्रीनाथजी आर्य थे जोकि आर्यसमाज नैरोबी के प्रधान थे। मुझे सनातनधर्म के इस मिथ्याभाषण पर अत्यन्त दु:ख और खेद है।

२. लाला मोहनलालजी मन्त्री आर्यसमाज जाखल मण्डी, जिला हिसार ने एक पत्र, मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी (अफरीका), सन् १९२७ के शास्त्रार्थ का वास्तविक वृत्तान्त जानने के लिए लिखा था, जिसपर मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी का निम्न विस्तृत पत्र प्राप्त हुआ जिसके साथ मलिक अहमद हसन साहब की सन् १९२७ के शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में दी गयी सम्मति की नकल भी संलग्न है और जो शास्त्रार्थ इसके पश्चात् सन् १९२९ में हुआ उसके सम्बन्ध में भी मलिक साहब की लिखित सम्मति संलग्न है। हम यहाँ आर्यसमाज नैरोबी के मन्त्री का मूलपत्र और दोनों शास्त्रार्थों के सम्बन्ध में मलिक साहब की व्यक्तिगत सम्मति भी अङ्कित कर देते हैं।

पाठक इस विवरण और व्यवस्था-पत्रों को पढ़कर निर्णय करें कि सचाई किस ओर है—

मान्यवर भ्राता महाशय मोहनलालजी गुप्त,
मन्त्री आर्यसमाज
जाखल मण्डी
नमस्ते।

आपका कृपापत्र २ सितम्बर सन् १९३२ महाशय हरनामसिंहजी के नाम प्राप्त हुआ।

यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि सनातनधर्म जाखल ने भारतवर्ष में प्रतिकूल अवस्थाओं को दृष्टि से ओझल करते हुए जान-बूझकर आर्यसमाज के प्रवर्तक के विरुद्ध व्यर्थ के मिथ्या भाषण और बेहूदा बकवास करने को ही अपना धर्म समझा है और आर्यसमाज नैरोबी के शास्त्रार्थ सन् १९२७ पर मूर्त्तिपूजा-विषय का वृत्तान्त बिल्कुल ग़लतरूप में देकर अपनी अयोग्यता और ओछेपन का प्रमाण और भी बढ़-चढ़कर दिया है, जिसके लिए हमें इनकी इस दयनीय अवस्था और मूर्खता पर सिवाय खेद के और क्या हो सकता है, यद्यपि [शास्त्रार्थ के] वृत्तान्त सर्वथा विरुद्ध थे।

हमारे एक भाई महाशय दौलतसिंहजी ने इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में उन्हीं दिनों में एक ट्रैक्ट प्रकाशित कराया था जो आपकी सेवा में इस पत्र के साथ भेजा जा रहा है, जिसे पढ़कर आप स्वयं अनुमान लगा सकेंगे कि सनातनधर्म के पण्डित साहब की युक्तियों में कितना दम था और उन्होंने शास्त्रार्थ में किस प्रकार हाथ-पाँव मारे कि किसी प्रकार प्रतिष्ठा रह जाए।

रही बात मध्यस्थ की, आप अच्छी प्रकार जानते हैं कि आर्यसमाज-जैसी सभ्य समाज कभी एक मुसलमान और खासकर अहमदी (अहमद हसन मलिक) का मध्यस्थ होना कैसे पसन्द कर सकता था? शास्त्रार्थ आर्यसमाज नैरोबी के अधीन दोनों सभाओं के प्रधानों के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था और इस बात में कदापि कोई सचाई नहीं है कि अहमद हसन मध्यस्थ था।

नैरोबी की सभ्य जनता शास्त्रार्थ के मध्य में दोनों पक्षों के पण्डितों की युक्तियों को सुनकर जब पूर्णरूप से इस विचार की हो चुकी थी कि माननीय स्वर्गीय पं० बालकृष्णजी महाराज के विद्वत्तापूर्ण, अकाट्य और शास्त्रीय प्रमाणों का सनातनधर्म के प्रसिद्ध पण्डित माधवाचार्य क्योंकि सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके और आर्यसमाज को पूर्णरूप से सफलता मिली है, तो उधर के सनातनियों ने अपनी रीति-नीति के अनुसार अपने दर्शनी पण्डित को धैर्य देने के लिए और आर्यसमाज के गौरव को लोगों के हृदय में से कम करने के लिए हाथ-पाँव मारने आरम्भ किये और जब उन्हें सीधे मार्ग से कोई सफलता दृष्टिगोचर नहीं हुई तो उन्होंने यह मकर व चाल चली कि मि० अहमद हसन मलिक अहमदी के पास जाकर भगवान् जाने किस प्रकार और किन शर्तों पर उनसे शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में निर्णय लिखवाया। यद्यपि वास्तविक बात यह है कि प्रशंसित मलिक ने स्वयं सारा शास्त्रार्थ नहीं सुना, जिसके प्रमाण में उनके पत्र की नक़ल सेवा में भेज रहा हूँ जोकि उन्होंने स्वयं आर्यसमाज की सेवा में भेजी थी।

इसमें आप देखेंगे कि यह पत्र उन्होंने सनातनधर्म की प्रार्थना पर लिखा, फिर भी निर्णय लगभग उनके विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बार सन् १९२९ में भी इधर नैरोबी में माधवाचार्य के साथ मूर्त्तिपूजा पर ही शास्त्रार्थ हुआ था जिसके सम्बन्ध में मैं आपकी सूचनार्थ यहाँ के Leading Papers [प्रमुख पत्रों] की Cuttings [कतरनें] भेज रहा हूँ। इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की ओर से पं० बुद्धदेवजी मीरपुरी थे। यह शास्त्रार्थ भी पूर्व-शास्त्रार्थ की भाँति धोखे का शास्त्रार्थ था और इस शास्त्रार्थ में असफलता के कारण ही इधर के सनातनधर्मियों ने माधवाचार्य को इधर से शीघ्र ही वापसी का टिकिट लेने पर विवश किया था। इस शास्त्रार्थ की पूरी-पूरी रिपोर्ट आशा है उन दिनों आपने समाचारपत्रों में पढ़ी होगी। इस शास्त्रार्थ में सनातनधर्म के एक प्रमुख नेता की ओर से महाशय शंकरदास सेठी पर छुरी से आक्रमण किया गया था। अभी तक छुरियाँ चलाने के लिए मुसलमान ही कुख्यात थे, परन्तु इधर

सनातनधर्मियों की ओर से भी यह कमीनी कुचेष्टा होती हुई देखी गयी। इस पत्र के साथ सय्यद जाति के एक मि० अहमद हसन मलिक ने स्वयमेव, शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में जो पत्र आर्यसमाज को लिखकर भेजा था, उसकी प्रतिलिपि आपको भेज रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त नैरोबी में दो लिखित शास्त्रार्थ भी हुए थे। एक तो पं० चमूपति एम० ए० और सनातनधर्म के पं० रामसरणदास के मध्य और दूसरा, पं० बालकृष्णजी और माधवाचार्य के मध्य। इन दोनों शास्त्रार्थों की बड़ी भारी Value (मूल्य) है, जिनकी नकल आवश्यकता पड़ने पर भेजी जा सकती है।

आपका शुभचिन्तक
बाबूराम भल्ला, मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी

प्रतिलिपि

श्रीमान् प्रधानजी आर्यसमाज नैरोबी, नमस्ते। नैरोबी
दिनाङ्क २६ अगस्त १९२७

सनातनधर्म सभा की प्रार्थना पर मैंने 'मूर्त्तिपूजा' के शास्त्रार्थ पर रिव्यू (समालोचना) लिखकर उनको दिया है।

मैं यह उचित समझता हूँ कि इसकी एक प्रतिलिपि आपके पास भी भेज दूँ, जिससे कोई भ्रम न रहे। विनीत

(हस्ताक्षर) मलिक अहमद हसन अहमदी

संक्षिप्त समालोचना शास्त्रार्थ, मध्य आर्यसमाज नैरोबी और सनातनधर्मसभा नैरोबी
(मूर्त्तिपूजा)

दिनाङ्क १४-८-२७, रविवार को आर्यसमाज मन्दिर में 'मूर्त्तिपूजा' पर आर्यसमाज और सनातनधर्म सभा के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ २-३० बजे मध्याह्न से ५-०० बजे सायं तक चलता रहा। मैं तीन बजे से तनिक पहले पहुँचा। उस समय सनातनधर्म के पण्डित माधवाचार्यजी अपने भाषण के अन्तिम शब्दों में थे। यह भाषण मैंने नहीं सुना।

आर्यसमाज के विद्वान् पण्डित बालकृष्ण साहब ने अपना भाषण तीन बजे आरम्भ किया। पण्डित माधवाचार्य ने अपनी शेष पारियों (Turns) में कई-एक उद्धरण आर्यसमाज के ग्रन्थों—उदाहरणार्थ आदिम सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, सन्ध्योपासना, पञ्चमहायज्ञविधि, आर्याभिविनय, यजुर्वेदभाष्य और कुछ दोनों के सम्मिलित ग्रन्थ—उदाहरणार्थ यजुर्वेद, शतपथब्राह्मण से इस विषय के प्रमाण में प्रस्तुत किये कि इन पुस्तकों में मूर्त्तिपूजा की शिक्षा किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है, परन्तु आर्य शास्त्रार्थ-महारथी के इस आक्षेप का उत्तर कि वेदों में कहाँ लिखा है कि मूर्त्ति किस वस्तु की और किस रूप या आकृति की होनी चाहिए तथा कितनी छोटी-बड़ी होनी चाहिए जो पूजा के योग्य समझी जा सके? मेरी दृष्टि में सनातनधर्मी पण्डित की ओर से उत्तर सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि सनातनी पण्डित ने केवल इतना ही किसी पुस्तक से प्रस्तुत किया कि पाँच बुत (मूर्त्ति) मिट्टी के बनाये जाएँ, जिससे यह पता नहीं चलता कि उनकी आकृति क्या हो और कितनी छोटी-बड़ी हो। इस प्रकार सनातनधर्म के पण्डित साहब ने आर्यपण्डित साहब के इस आक्षेप को छुआ तक नहीं।

कृष्णजी महाराज ने उनकी (ईश्वर की) मूर्त्ति की पूजा करनेवालों को मूढ़ बताया है। सम्भव है कि उपर्युक्त दोनों बातों का कोई सन्तोषजनक उत्तर सनातनधर्म के पास हो, परन्तु शास्त्रार्थ में ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।

(ह०) मलिक अहमद हसन अहमदी

प्रतिलिपि-पत्र मि० अहमद हसन मलिक जो उन्होंने प्रधान आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में भेजी

माननीय श्री महाशय बद्रीनाथजी,

नमस्ते।

परसों रविवार की सायं जो खेदजनक घटना आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य में हुई, मुझे इससे गहरा आघात पहुँचा है। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि यदि पं० बुद्धदेवजी को भाषण के बीच में न टोका जाता और भाषण की समाप्ति पर दूसरे पण्डित साहब इनके विवरण का खण्डन कर देते तो जनता को उत्तम शैली से जानकारी प्राप्ति का अवसर मिलता, परन्तु खेद है कि ऐसी शैली नहीं अपनाई गयी और परिणाम अत्यन्त दुःखद निकला।

मेरे विचार में यदि भविष्य में धार्मिक उत्सव शास्त्रार्थ के रूप में न किये जाएँ तो उत्तम होगा। मैं जानता हूँ कि इस शैली पर विशेषकर वे लोग जिनके साथ जत्थे की भीड़ होती है, शास्त्रार्थों को जत्थे के बल पर अनिष्टकर सभा बनाकर अपना हृदय प्रसन्न किया करते हैं। ऐसे लोगों को जहाँ तक मेरा वर्षों का अनुभव है, वस्तुतः धार्मिक जानकारी नहीं होती। उनका सम्बन्ध इतना ही होता है कि वे किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हैं और परसों भी झगड़ा करनेवाले जौन-से भी थे, वस्तुतः धर्म के प्रयोजन व उद्देश्य से अनजान थे।

(हस्ताक्षर) अहमद हसन मलिक, नैरोबी

पोपजी का छल-कपट—४

पोपजी ने 'आर्यसमाज की चौथी पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत मुहम्मदाबाद जिला गाजीपुर का शास्त्रार्थ अङ्कित किया है जोकि 'पुराण वेदों के विरुद्ध हैं' इस विषय पर हुआ था, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्दजी और सनातनधर्म की ओर से पं० कालूरामजी थे।

पोपजी ने प्रकट किया है कि दोनों पक्षों की ओर से निर्णय देने का अधिकार श्री बाबू सरस्वती दत्तजी बी० ए०, एल-एल० बी० वकील को दिया गया था, जिन्होंने निम्न निर्णय दिया।

पोपजी ने इसमें भी अपने स्वभाव के अनुसार छल-कपट से ही काम लिया है। इस शास्त्रार्थ में भी निर्णय के लिए किसी को मध्यस्थ नहीं बनाया गया था। इस शास्त्रार्थ में सनातनधर्म की बहुत बड़ी पराजय हुई। बाद में सनातनधर्म के अपयश और कलङ्क को धोने के लिए बाबू सरस्वतीदत्त वकील ने एक निर्णय लिखकर एक सार्वजनिक सभा में सुना दिया। यह सब-कुछ आर्यसमाज के उपदेशकों के चले जाने के पश्चात् किया गया। यद्यपि शास्त्रार्थ का विषय 'पुराणों में मांस-भक्षण' था, जिसमें मनुस्मृति, रामायण, महाभारत और अष्टादश पुराणों से यह दिखाया गया था कि सनातनधर्म मधुपर्क, यज्ञ और श्राद्ध में गौ, बकरा, घोड़ा आदि सब पशुओं की देवता और पितरों के नाम से बलि देकर उनका मांस खाना वैध मानता है।

इस शास्त्रार्थ में पं० कालूराम की वह गत बनी कि जिसे वे मरणपर्यन्त स्मरण रक्खेंगे, परन्तु बाबू सरस्वतीदत्तजी ने अपने लेख में केवल कृष्णजी के विवाह में गोवध के खण्डन का ही प्रयत्न किया है और ब्रह्मवैवर्तपुराण से जो दिखाया गया था कि आदिमनु ने जोकि जीवन्मुक्त और धर्मात्मा राजा था पाँच लाख गौओं का मांस पकाकर यज्ञ में ब्राह्मणों को खिलाया और चन्द्रमा के पोते चैत्र ने पाँच करोड़ गौओं का मांस यज्ञ में ब्राह्मणों को खिलाया

आदि-आदि सैकड़ों प्रमाणों का जोकि शास्त्रार्थ में प्रस्तुत किये गये थे, अपने लेख में चर्चा तक नहीं की और कर भी कैसे सकते थे जबकि सनातनधर्म का यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है? रुक्मिणी के विवाह में भी भक्ति से गाँव की देवी को बलि देकर गाय, मेंढा, कछुआ आदि के मांस को तैयार करने का वर्णन है। इस प्रकरण में भी बाबू सरस्वतीदत्तजी केवल गोवध से ही इन्कार करते हैं, शेष मेंढा, कछुआ और खरगोश मारे जाने से वे भी सहमत हैं।

वस्तुतः बात यह है कि चूँकि सनातनधर्म के ग्रन्थों में मांस भरा पड़ा है, अतः इससे इन्कार करना पौराणिकों के लिए असम्भव है। स्वामीजी की विजय और कालूराम की पराजय को बाबू सरस्वतीदत्तजी ने भी अपने लेख में अङ्कित किया है। आप लिखते हैं कि 'स्वामीजी महाराज सामयिक सभाचतुर हैं और किसी प्रकार अपना कार्य साधन करना चाहते हैं। विजय के लिए तर्क से असम्भव को सम्भव कर दिखाते हैं।' इससे सिद्ध है कि शास्त्रार्थ में स्वामीजी की भारी विजय हुई और पौराणिक पोपमण्डल ने इस विजय को छिपाने के लिए ही यह छल-कपट खड़ा किया कि आर्यसमाज के पण्डितों के चले जाने के पश्चात् एक सार्वजनिक सभा करके यह काल्पनिक निर्णय उसमें सुना दिया, अन्यथा न बाबू सरस्वतीदत्तजी को निर्णय के लिए मध्यस्थ बनाया गया और न ही कोई निर्णय सुनाया गया।

हम पोपजी को डबल चैलैञ्ज करते हैं कि वे इस बात को सिद्ध करें कि बाबू सरस्वतीदत्तजी को शास्त्रार्थ के लिए मध्यस्थ नियत किया गया था। इस बात की वास्तविकता जानने के लिए महाशय शान्तिप्रकाशजी आर्य ने जोकि आर्यसमाज भटिण्डा के एक जोशीले कार्यकर्ता हैं, स्वामी विवेकानन्दजी को एक पत्र लिखा था। वहाँ से स्वामीजी ने एक विस्तृत उत्तर लिखा है। हम महाशय शान्तिप्रकाशजी के पत्र और स्वामीजी की ओर से उसके उत्तर को हूबहू अङ्कित कर देते हैं, जिससे पाठकों को वास्तविकता का पता लग सके। वे दोनों पत्र निम्न हैं—

ओ३म्

स्वामीजी महाराज!

नमस्ते।

सनातनधर्म फ्री ट्रैक्ट सोसायटी अमृतसर की ओर से एक पुस्तक 'सनातनधर्म विजय' नाम से प्रकाशित हुई है, जिसमें आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के पवित्र व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बकवास की गयी है। जहाँ और कुछ अनर्गल और आपत्तिजनक बातें लिखी हैं, वहाँ शास्त्रार्थ मुहम्मदाबाद, ज़िला गाजीपुर की भी चर्चा है जो आपके और पण्डित कालूराम के मध्य पुराणों के विषय पर हुआ। क्या इसमें बाबू सरस्वतीदत्तजी वकील को दोनों पक्षों ने निर्णय सुनाने के लिए मध्यस्थ नियत किया था और क्या उसने निर्णय आर्यसमाज के विरुद्ध दिया था? उस समय के समाचारपत्रों में कोई कारवाई प्रकाशित हुई हो तो हमें सूचना दें। हमने इस पुस्तक का उत्तर 'वैदिक तोप' तैयार किया है। उनके खण्डन में शास्त्रार्थ मुहम्मदाबाद के सम्बन्ध में आपसे सामग्री चाहिए। कृपा करके लिखें और उत्तर शीघ्र दें।

शान्तिप्रकाश आर्य

भूपेन्द्रा फ्लोर मिल, भटिण्डा, रियासत पटियाला

ओ३म्

महाशय शान्तिप्रकाशजी!

नमस्ते।

आपका पत्र मिला। उत्तर में निवेदन है कि पं० कालूराम और मेरे मध्य मुहम्मदाबाद, ज़िला गाज़ीपुर में कई वर्ष हुए शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें श्रीमान् पं० जे० पी० चौधरीजी

भी विद्यमान थे। इस शास्त्रार्थ में प्रथम दिन पं० कालूरामजी ने सार्वजनिक सभा के समक्ष मुझसे क्षमा माँग ली थी और कहा था कि ग़लती से आर्यसमाज को चैलैञ्ज दिया गया है। मैं शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता। इसके लिए मुझे क्षमा किया जाए।

दूसरे दिन सनातनधर्मियों ने पं० कालूरामजी को बहुत लज्जित किया कि आपने हमारी नाक कटवा दी। जैसे भी हो शास्त्रार्थ कीजिए, अन्यथा हमारा बड़ा अपयश हो रहा है। इसपर पं० कालूराम ने आर्यसिद्धान्तों का खण्डन किया, जिसपर हमने चैलैञ्ज दिया और फिर तीसरे दिन शास्त्रार्थ हुआ। मध्यस्थ कोई नहीं था। हमने सिद्ध कर दिया कि पुराणों में मांस खाना लिखा है और परस्पर विरोध है। पं० कालूराम इसका कोई उत्तर नहीं दे सके। इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रीमान् पं० जे० पी० चौधरी, सम्पादक 'सत्यधर्म प्रचारक' बनारस के पास है और उन्होंने अपने 'सत्यधर्म प्रचारक' में इस शास्त्रार्थ को प्रकाशित भी किया था। विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए इन्हें लिखिएगा।

सुना है कि बाद में एक वकील, जिनका नाम सरस्वतीदत्त है, जो सनातनधर्मी हैं, कुछ संस्कृत भी पढ़े हैं, ने इन श्लोकों का अनुवाद करके एक सार्वजनिक सभा में सुनाया और कहा कि इनमें कहीं पशुओं के मारे जाने का वर्णन नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि ये सब बातें हम लोगों के मुहम्मदाबाद से चले आने के बाद की हैं। हम लोगों के रहते हुए पं० कालूराम की घोर पराजय हुई थी। यदि आप इसका पूरा-पूरा वृत्तान्त जानना चाहते हैं तो प्रशंसित चौधरी साहब के पास सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा हुआ मिलेगा। अधिक क्या लिखूँ! यदि फिर भी कालूराम अपने विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो हम तैयार हैं, अथवा और कोई विषय जिसे वे सनातनधर्म में बड़ा सिद्ध समझते हैं, उसपर शास्त्रार्थ कर सकते हैं। हम सदा उनसे अथवा सनातनधर्म के बड़े-से-बड़े पण्डित से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हैं। यदि सम्भव हो तो इस पुस्तक की एक प्रति मेरे पास भेजने की कृपा करें।

आपका

(हस्ताक्षर) विवेकानन्द सरस्वती

मेरा पता—स्वामी विवेकानन्द सरस्वती, प्रोप्राइटर विवेकानन्द टेलरिंग ट्रेनिंग स्कूल, बलिया है।

पोपजी का छल-कपट—५

पोपजी ने 'आर्यसमाज की पाँचवीं पराजय' शीर्षक के अन्तर्गत हैदराबाद दक्षिण का शास्त्रार्थ अङ्कित किया है, जोकि 'विधवा विवाह' विषय में आर्यसमाज और सनातनधर्म के मध्य में हुआ, जिसमें आर्यसमाज की ओर से पं० चन्द्रभानुजी आर्योपदेशक और सनातनधर्म की ओर से पं० माधवाचार्यजी थे। पोपजी ने लिखा है कि इस शास्त्रार्थ में निर्णय के लिए हैदराबाद हाईकोर्ट के एडवोकेट श्रीमान् बाबू कल्याणरावजी अय्यर को मध्यस्थ बनाया गया था, जिन्होंने कि आर्यसमाज के विरुद्ध यह निर्णय दिया—

पोपजी का यह लेख सोलह आने ग़लत और छल-कपट का पर्यायवाची है, क्योंकि शास्त्रार्थ की शर्तों में एक शर्त यह भी थी कि 'व्यवस्था के अतिरिक्त निर्णय आदि अध्यक्ष महोदय नहीं करेंगे।' इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज को भारी विजय प्राप्त हुई और जनता पर इसका बहुत भारी प्रभाव पड़ा, प्रत्युत अध्यक्ष महोदय ने तो पुराणों में विधवा-विवाह की भरमार को जानकर पुराणों को प्रामाणिक पुस्तकों से बहिष्कृत समझने की शर्त लगा दी थी और माधवाचार्यजी मैदान छोड़कर भाग गये थे। इसका विस्तृत विवरण 'प्रकाश' लाहौर

के २० माघ संवत् १९८७ में अङ्कित है, पाठक अवलोकन कर सकते हैं। बाद में सनातनधर्म ने बाबू कल्याणरावजी से एक निर्णय लिखवाकर प्रकाशित कर दिया, जिसपर वहाँ की आर्यसमाज की ओर से इसके उत्तर में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम है 'नारी पुनर्विवाह मीमांसा।' इस पुस्तक की भूमिका में सनातनधर्म का पत्र अङ्कित करके यह सिद्ध किया गया है कि बाबू कल्याणरावजी ने प्राइवेटरूप से निर्णय लिखकर शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध कार्य किया है। हम इस पुस्तक में से वह भाग जोकि इस अवैध निर्णय के सम्बन्ध में है हूबहू अङ्कित कर देते हैं—

''पृष्ठ ४ पर श्री वामन नायकजी ने दौड़-धूप करके अपने मित्र कल्याणराव साहब अय्यर से जो विजय का प्रमाणपत्र प्राप्त किया है, उसका क्या मूल्य है, यह हम नहीं कहेंगे। देखिए, स्वयं नायकजी ऐसी विजय के प्रमाणपत्र का क्या मूल्य लगाते हैं। आपने २४ दिसम्बर १९३० का जो पत्र हमें मुक्ताश्रम बेगमपेट से लिखा था उसके पृष्ठ ३, पंक्ति १० में आप लिखते हैं 'हमें न विजय से कोई सुख है और न पराजय का कोई दु:ख है और न ऐसे विजय के प्रमाणपत्र का संसार में कोई मूल्य!' कहिए, वामनजी! आपके ही पत्र ने आपकी काग़ज़ी (पत्र-सम्बन्धी) विजय को किस निर्दयता से दियासलाई लगा दी—

इस घर को आग लग गयी घर के चिराग से।
होवें कैसे बेदाग़ फिर आप ऐसे दाग़ से॥

अब रही कल्याण साहब को सम्मति देने के अधिकार की बात। इसके सम्बन्ध में दिल्ली की एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'हण्डिया गयी तो गयी, परन्तु कुत्ते की जाति पहचानी गयी।' कहावत है तो तनिक कठोर, परन्तु इस स्थान पर फबती खूब है, अर्थात् शास्त्रार्थ होना था सो हो गया। सम्मति किसी पर ज़ोर देकर लिखवानी थी सो लिखी गयी, परन्तु यह पता लग गया कि कल्याणराव अय्यर साहब प्रधान बनने की कितनी शर्तों का पालन करते हैं और श्री वामन नायकजी अपने ही बनाये हुए शास्त्रार्थ के नियमों को कैसी बुरी भाँति ठुकराते हैं। आपने उसी २४ दिसम्बर सन् १९३० के पत्र में पृष्ठ १ पर लिखा था कि 'हम पहले से ही स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रबन्ध के अतिरिक्त, निर्णय आदि अध्यक्ष नहीं करेंगे।' कहिए, नायकजी! फिर आपने अध्यक्ष से किस प्रकार निर्णय की व्यवस्था लेकर अपने बनाये हुए और दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत नियमों को कुचला है या नहीं? उत्तरदायी व्यक्तित्व होते हुए भी आप दायित्वहीन (कर्तव्यच्युत) बनेंगे या नहीं?''

बस, इस लेख की विद्यमानता में और अधिक लिखने की आवश्यकता ही नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पोपमण्डल ने यह छल-कपट करके जनता को धोखा देने का प्रयत्न किया है, अन्यथा इस शास्त्रार्थ में कल्याणरावजी को परस्पर सहमति से व्यवस्थापक अध्यक्ष ही बनाया गया था। बाद में घर पर आकर सनातनधर्मियों के पक्ष में निर्णय लिखकर देना बाबू कल्याणरावजी का केवल मूर्खतापूर्ण और पाजीपन का काम ही है जोकि किसी भी अवस्था में समादरणीय नहीं।

हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि आजकल शास्त्रार्थों में किसी को निर्णायक प्रधान बनाना एक बहुत बड़ी ग़लती है, क्योंकि शास्त्रार्थ का निर्णय देनेवाले पक्षपात-रहित और चारों वेदों के विद्वान् का मिलना इस युग में असम्भव है जैसाकि पोपजी के उक्त पाँच शास्त्रार्थों के निर्णयों की पोल खोलकर हमने सिद्ध भी कर दिखाया है। ऐसी स्थिति में यदि शास्त्रार्थ ही बन्द कर दिये जाएँ तो जनता को दोनों ओर के तुलनात्मक विचारों को सुनने का अवसर नहीं मिल सकता, अत: आर्यसमाज साधारणतया निर्णायक प्रधान किसी को भी

नियत नहीं करता; व्यवस्थापक प्रधान नियत करता है और निर्णय जनता पर ही छोड़ देता है, परन्तु चूँकि पोपजी की दृष्टि में इस प्रकार के निर्णयों का समादर है और वह उन निर्णयों को ही धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में निर्णय की कसौटी स्वीकार करते हैं, अतः हम भी कुछ ऐसे शास्त्रार्थ अङ्कित कर देते हैं कि जिनमें आर्यसमाज ने सनातनधर्म के आग्रह करने पर निर्णय के लिए मध्यस्थ नियत किये और जिन्होंने आर्यसमाज के पक्ष में निर्णय सुनाये। हम आशा करते हैं कि पौराणिक पोपमण्डल की इससे सन्तुष्टि हो जाएगी।

स्वामी दयानन्दजी की प्रथम विजय

विषय—मूर्त्तिपूजा

आर्यसमाज की ओर से पूज्य महर्षि स्वामी दयानन्दजी महाराज थे। सनातनधर्म की ओर से काशी के महाविद्वान् स्वामी विशुद्धानन्दजी थे। यह शास्त्रार्थ प्रसिद्ध पौराणिक पोपगढ़ काशी में हुआ था, जिसके अध्यक्ष स्वयं काशीनरेश थे। सनातनधर्म का पक्ष था कि वेदों में मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है और स्वामीजी का यह प्रबल दावा था कि चारों वेदों में एक मन्त्र भी मूर्त्तिपूजा की आज्ञा देनेवाला नहीं है। यद्यपि स्वामी दयानन्दजी अकेले थे और स्वामी विशुद्धानन्दजी की पीठ पर काशी का सम्पूर्ण पण्डितमण्डल था, इसपर भी पौराणिक पोपमण्डल वेदों में से एक मन्त्र भी मूर्त्तिपूजा के समर्थन में प्रस्तुत नहीं कर सका। अन्ततः काशीनरेश ने जो निर्णय दिया वह हम सनातनधर्म की मासिक पत्रिका 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' संस्कृत, दिसम्बर सन् १८६९ से उद्धृत करते हैं, जिसके सम्पादक संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमीजी थे। काशीनरेश का निर्णय निम्न है—

''हमारा आना अच्छा हुआ। दयानन्द को कोई पण्डित किसी प्रकार पराजित न कर सका।''

स्थान—काशीपुरी
—(हस्ताक्षर) काशी नरेश
१६ नवम्बर १८६९

महर्षि दयानन्दजी की दूसरी विजय

विषय—मूर्त्तिपूजा

आर्यसमाज की ओर से महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती थे। सनातनधर्म सभा की ओर से सनातनधर्म जगत् के प्रसिद्ध पण्डित हलधर ओझा शास्त्री थे। यह शास्त्रार्थ भारत के प्रसिद्ध व्यापारिक नगर कानपुर में हुआ था। इस शास्त्रार्थ के मध्यस्थ थेन[१] साहब असिसटैण्ट कलैक्टर बहादुर, कानपुर थे। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर उन्होंने जो निर्णय दिया, वह निम्न है—

भद्र पुरुषो! उस समय मैंने दयानन्द सरस्वती फ़क़ीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था और मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियाँ वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनकी विजय हुई। यदि आप कहेंगे तो मैं अपने निर्णय के कारण थोड़े दिन में आपको बतला दूँगा।

कानपुर ३१ जुलाई, सन् १८६९
आपका आज्ञानुवर्ती
—(हस्ताक्षर) डब्ल्यू० थेन[१]

---

१. इनका वास्तविक नाम थेयर था, थेन नहीं।

विजय का प्रकट प्रमाण

इस शास्त्रार्थ से जनता इतनी प्रभावित हुई कि लोग मूर्त्तियों को उठा-उठाकर गङ्गा में फेंकने लगे। इसपर हलधर ओझा ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया, जो निम्न है—

हलधर ओझा का विज्ञापन

दयानन्द सरस्वती के मत के अनुसार बहुत लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि अपना कुलधर्म छोड़कर मूर्त्ति-देवताओं को गङ्गाजी में प्रवाहित कर देते हैं, यह बात अनुचित है, अत: यह विज्ञापन दिया जाता है कि जो लोग उनके मत को स्वीकार करें, उन्हें चाहिए कि कृपा करके मूर्त्तियों को एक मन्दिर कैलास नामी महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल का है, उसमें अथवा मन्दिर प्रयाग नारायण तिवारी में पहुँचा दें, और यदि उन्हें पहुँचाने का अवकाश न हो तो हमें सूचित करें, हम उन्हें उठवा लिया करेंगे और उनके बहाने या फेंकने में जो पाप है वह शास्त्रों में लिखा है।

प्रकाशक
—ओझा हलधर
२ अगस्त १८६९

अतिरिक्त साक्षी—संन्यासीजी के सत्सङ्ग-लाभ से कुछ हिन्दू मूर्त्तियों को नदी में डालने लगे हैं इसके लिए ओझाजी ने विज्ञापन दिया है कि वेद व शास्त्रों में ऐसा करना बहुत अनुचित लिखा है। जिसे मूर्त्ति को नदी में डालना अभीष्ट हो, वह हमारे पास पहुँचा दे, नदी में डालकर पाप न ले। **समाचारपत्र** 'शोलाए तूर' कानपुर, ३ अगस्त १८६९

अनुमान और विचार के अनुसार ऋषि दयानन्दजी ने भारतवर्ष में सैकड़ों स्थानों पर शास्त्रार्थ करके पौराणिक पोपमण्डल पर दिग्विजय प्राप्त की। नमूने के रूप में हमने दो उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। अधिक के लिए देखो 'दयानन्ददिग्विजय', लेखक कविरत्न पं० अखिलानन्दजी।

आर्यसमाज की तीसरी विजय

विषय—ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं?

आर्यसमाज की ओर से संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् पं० गणपतिजी शर्मा थे। सनातनधर्म की ओर से विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र थे। यह शास्त्रार्थ हिसार में हुआ। इसके अध्यक्ष श्रीयुत डॉ० धनीरामजी थे। पं० गणपति शर्मा ने यह शास्त्रार्थ अपनी अत्यन्त सरल और ललित संस्कृत में किया जिसे सुनकर जनता चकित रह गयी। पं० ज्वालाप्रसादजी उत्तर में संस्कृत नहीं बोल सके, अपितु भाषा में उत्तर देने लगे। शास्त्रार्थ के अन्त में डॉक्टरजी ने निर्णय सुनाया—

मैंने दोनों पक्षों के भाषणों को ध्यानपूर्वक सुना। मैं बिना भय और प्रतिवाद की आशंका के कह सकता हूँ कि पं० गणपति शर्मा ने वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभाष्य, अष्टाध्यायी और निरुक्त के प्रमाणों तथा प्रबल युक्तियों से इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों का ऋषिकृत भाष्य होने से परत:प्रमाण हैं और चार वेद मन्त्रसंहिता ही ईश्वरकृत होने से स्वत:प्रमाण हैं। पं० ज्वालाप्रसादजी एक भी प्रमाण अपने दावे की सिद्धि में प्रस्तुत नहीं कर सके, इधर-उधर की बातें बनाकर समय को टालते रहे। इसलिए मैं घोषणा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ में पं० गणपति शर्मा को विजयश्री प्राप्त हुई है।

—(हस्ताक्षर) डॉ० धनीराम, हिसार

आर्यसमाज की चौथी विजय

विषय—क्या पुराण वेदानुकूल हैं

आर्यसमाज की ओर से प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी शान्तिप्रकाशजी, महोपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से काशी के विद्वान् पं० काशीरामजी शास्त्री, होशियारपुरी थे। यह शास्त्रार्थ झोकउत्तरा, जिला डेरा गाज़ीखाँ में हुआ। इसके सभापति स्थानीय सनातनधर्म सभा के प्रधान हकीम टेकचन्दजी विरमानी थे। शास्त्रार्थ के अन्त में विरमानीजी ने खड़े होकर निम्न निर्णय सुनाया—

''हम सनातनधर्मी लोग अत्यन्त लज्जित हैं, क्योंकि हमारे पण्डित बहुत बुरी भाँति असफल रहे हैं और आर्यपण्डित को भारी विजय मिली है। हमने जितने परिश्रम से यहाँ सभा स्थापित की थी, वह सब एक ही शास्त्रार्थ से व्यर्थ हो गयी और कदाचित् हम एक लम्बे समय तक जनता के समक्ष अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकेंगे। अब सभा की कार्रवाई समाप्त की जाती है।''

—(हस्ताक्षर) टेकचन्द विरमानी

आर्यसमाज की पाँचवीं विजय

विषय—अवतारवाद

आर्यसमाज की ओर से पं० श्री दलपतिजी शास्त्री, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से पं० बख्तावरमलजी, व्याख्यानवाचस्पति, फीरोज़पुरी थे। यह शास्त्रार्थ हरसहाय मण्डी, ज़िला फिरोज़पुर में इसी मण्डी के सरदार अर्जुनसिंहजी रईसे आज़म की अध्यक्षता में हुआ, जिसका निर्णय भरी सभा में सरदारजी ने यूँ सुनाया—

''सनातनधर्मी पण्डित आर्यसमाजी पण्डित के दस प्रश्नों में से एक का भी उत्तर नहीं दे सका और अन्त समय तक अनावश्यक बातें बनाता रहा, अत: मैं घोषणा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाज की विजय और सनातनधर्म की पराजय हुई है।''

—(हस्ताक्षर) सरदार अर्जुनसिंह

आर्यसमाज की छठी विजय

विषय—पुराणों की सभ्यता से गिरी शिक्षा

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी आर्योपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब थे। सनातनधर्म की ओर से पं० कालूरामजी शास्त्री युक्तिविशारद थे। यह शास्त्रार्थ कोसरयान, रियासत पटियाला में लाला शम्भुप्रसादजी रईस, बब्बनपुर की अध्यक्षता में हुआ। यह शास्त्रार्थ संस्कृत और हिन्दी में हुआ। अन्त में लालजी ने निर्णय सुनाया—

''सम्माननीय सज्जनो! मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिए कि शास्त्रार्थ को सुनने के पश्चात् मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ वह यह है कि पुराणों ने वस्तुत: अश्लीलता-प्रदर्शन में कमाल कर दिया है। आर्यपण्डित के प्रमाणों का सनातनी पण्डित कोई समाधान नहीं कर सके और न ही सनातनी पण्डित संस्कृत बोलने की प्रतिज्ञा का पालन कर सके।''

—(हस्ताक्षर) शम्भुप्रसाद रईस

आर्यसमाज की सातवीं विजय

विषय—मृतकश्राद्ध

आर्यसमाज की ओर से पं० लोकनाथजी उपदेशक, आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। सनातनधर्म की ओर से पं० श्रीकृष्णजी शास्त्री, उपदेशक, सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा,

पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ पाई, ज़िला करनाल में, चौधरी आशुरामजी रईस फतहपुरी की अध्यक्षता में हुआ। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर चौधरीजी ने अपने निर्णय की सार्वजनिक घोषणा की—

"मेरी और सारे गाँव की यह प्रतिज्ञा थी कि यदि वेदों से मृतकश्राद्ध सिद्ध हो जाए तो हम सब लोग मृतकश्राद्ध को स्वीकार कर लेंगे, परन्तु मैं खण्डन की आशङ्का के बिना निर्भय होकर इस बात की घोषणा करता हूँ कि पं० श्रीकृष्णजी शास्त्री ने वेद का एक भी मन्त्र मृतकश्राद्ध के समर्थन में नहीं दिया और पं० लोकनाथजी ने कई मन्त्र जीवित पितरों की सेवा के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये। इतना ही नहीं कि सनातनी पण्डित इनका खण्डन नहीं कर सके, अपितु वेदों में से श्राद्ध शब्द भी नहीं दिखा सके, अतः मृतकश्राद्ध वेदों के विरुद्ध सिद्ध हुए।"

—(हस्ताक्षर) चौधरी आशुराम, फतहपुरी

आर्यसमाज की आठवीं विजय

विषय—स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदविरुद्ध हैं

आर्यसमाज की ओर से पूज्यपाद स्वामी रुद्रानन्द संन्यासी। सनातनधर्म की ओर से पं० भीमसेनजी उपदेशक सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ शाहबाद, ज़िला करनाल में, सरदार करतारसिंह, सबइंस्पैक्टर, थाना शाहबाद की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। पं० भीमसेनजी ने प्रश्न किया कि स्वामीजी ने गर्म देश में चोटी का काटना लिखा है, अतः सत्यार्थप्रकाश वेद के विरुद्ध है। स्वामी रुद्रानन्दजी ने कहा कि दावा बिना युक्ति खारिज (रद्द) करने के योग्य है। जब आपका यह दावा है कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं तो पहले आप कोई वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके सिद्ध करें कि कौन-से वेदमन्त्र में कितनी बड़ी चोटी, किस ओर रखना लिखा है। जब तक आप वेद से चोटी की विधि न दिखलाएँ तब तक आपका दावा बिना प्रमाण है। इसपर सनातनधर्म के पाँच पण्डितों ने वेदों के पृष्ठ उलटने आरम्भ किये और निर्णय इसी बात पर रुका रहा। अन्ततः रात्रि के १२ बज लिये और सनातनधर्मी पण्डित कोई वेदमन्त्र चोटी रखने के समर्थन में प्रस्तुत नहीं कर सके। तब अध्यक्ष महोदय ने निम्न निर्णय देकर सभा समाप्त की—

"चूँकि अब रात्रि के १२ बज गये हैं और सनातनधर्मी पण्डित अपने समर्थन में कोई वेदमन्त्र प्रस्तुत करने में अयोग्य सिद्ध हुए हैं, इसलिए मेरे विचार में स्वामी रुद्रानन्दजी सचाई पर हैं कि जब तक वेद का मन्त्र प्रस्तुत करके इसके साथ सत्यार्थप्रकाश का विरोध न दिखाया जाए तब तक बिना प्रमाण दावा खारिज करने के योग्य ही होता है। इसलिए मैं इस सभा को समाप्त घोषित करता हूँ।" —(हस्ताक्षर) सरदार करतारसिंह

सबइंस्पैक्टर, थाना शाहबाद

आर्यसमाज की नवम विजय

विषय—नमस्ते

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। सनातनधर्म की ओर से पं० ब्रह्मदत्तजी, उपदेशक सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब। यह शास्त्रार्थ अम्बाला सैण्ट्रल जेल में डॉ० सन्तरामजी सेठ, अमृतसरी की अध्यक्षता में हुआ। आर्यसमाज का पक्ष था कि परस्पर छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष—सब नमस्ते कर सकते हैं और नमस्ते करना वैदिक है। सनातनधर्म का पक्ष था कि नमस्ते केवल ईश्वर के लिए ही की

जा सकती है, मनुष्यों के लिए नहीं और नमस्ते व्याकरण की रीति से पद्य में ही बन सकता है, गद्य में नहीं बन सकता। शास्त्रार्थ दो घण्टे तक होता रहा। अन्त में डॉक्टर साहब ने जो निर्णय दिया वह नीचे अङ्कित किया जाता है—

"शास्त्रार्थ को सुनकर मेरी ईमानदारी-पूर्ण सम्मति यह है कि परस्पर नमस्ते करना उचित और वेदों के अनुकूल है और 'जय रामजी की, जय कृष्णजी की' आदि-आदि अभिवादनों का प्रयोग महाभारत के पश्चात् आरम्भ हुआ है।"

—(हस्ताक्षर) डॉ० सन्तराम सेठ, अमृतसरी
सैण्ट्रल जेल, अम्बाला

आर्यसमाज की दशवीं विजय

विषय—विधवा-विवाह

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी, उपदेशक आर्यप्रतिनिधि सभा, पञ्जाब और सनातनधर्म की ओर से पण्डित लक्ष्मीचन्दजी कौल-निवासी थे। यह शास्त्रार्थ जीतो मण्डी, रियासत नाभा में लाला हरिचन्द की अध्यक्षता में हुआ। यह शास्त्रार्थ भी संस्कृत और भाषा में था। सनातनधर्मियों ने अपनी पराजय के लक्षण देखकर शामियाने की रस्सियाँ काट डालीं और शामियाना आर्यपण्डितों के ऊपर गिर पड़ा, परन्तु आर्यपण्डितों ने शास्त्रार्थ प्रचलित रखा। अन्त में सभा-प्रधान ने निर्णय दिया—

"सनातनधर्म के पण्डित विधवा-विवाह को वेद के विरुद्ध सिद्ध करने में असफल रहे। आर्यसमाजी पण्डित इस बात को सिद्ध करने में सफल हैं कि पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी दूसरे पति का अधिकार प्राप्त है और वह वेदानुकूल हैं।"

(हस्ताक्षर) हरिचन्द, पी० डब्ल्यू० आई०, जीतो मण्डी

आर्यसमाज की ग्यारहवीं विजय

विषय—क्या अष्टादश पुराण वेद के अनुकूल हैं

आर्यसमाज की ओर से पं० मनसारामजी उपदेशक, आर्यप्रतिनिध सभा, पञ्जाब और सनातनधर्म की ओर से पं० राजनारायण 'अरमान' देहलवी थे। यह शास्त्रार्थ रियासत पटियाला में लाला रामचन्द्रजी रईस, मारवाड़ी, भटिण्डा, रियासत पटियाला की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। शास्त्रार्थ क्या था, सनातनधर्म पर बम्ब का गोला था। इस शास्त्रार्थ की भीषण मार का मारा हुआ सनातनधर्म, भटिण्डा, शास्त्रार्थ के नाम से कानों पर हाथ रखता है। इस शास्त्रार्थ के अन्त में अध्यक्ष महोदय ने जो निर्णय सुनाया वह नीचे अङ्कित किया जा रहा है—

"मैं इस बात की सार्वजनिक घोषणा करता हूँ कि सनातनधर्म के पण्डित राजनारायण 'अरमान' को आर्यसमाज के पण्डित मनसारामजी के मुकद्दमा में भारी पराजय मिली है। मैं आशा करता हूँ कि इस शास्त्रार्थ के परिणामस्वरूप जनता पुराणों की शिक्षा से घृणा करके वैदिक धर्म की शरण में आएगी।"

(हस्ताक्षर) लाला रामचन्द्र रईस, मारवाड़ी
भटिण्डा, रियासत पटियाला

हमने नमूने के रूप में आर्यसमाज की ये ग्यारह विजय पुस्तक में अङ्कित कर दी हैं। यदि आवश्यकता हो तो इस प्रकार के सैकड़ों शास्त्रार्थ अङ्कित किये जा सकते हैं, जिनमें सनातनधर्म को भारी पराजय का मुँह देखना पड़ा है और सनातनधर्म के पण्डित आर्यसमाज

के पण्डितों के मुक़ाबले में दुम दबाकर भागते दिखाई दिये हैं। इतनी भारी पराजय के पश्चात् भी यदि पौराणिक पोपमण्डल को पुनः अपने भाग्य की परीक्षा करने की इच्छा हो तो उसके लिए भी आर्यसमाज हर समय तैयार है। परिणामस्वरूप हम पौराणिक पोपमण्डल को निम्न चैलैञ्ज देते हैं—

संसारभर के पौराणिक पोपमण्डल को शास्त्रार्थ के लिए खुला चैलेञ्ज

समादरणीय पाठकवृन्द! यद्यपि इससे पूर्व आर्यसमाज के पौराणिक पोपमण्डल के साथ सहस्रों शास्त्रार्थ हो चुके हैं, जिनमें सनातनधर्म को बुरी भाँति असफलता का मुँह देखना पड़ा है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि दिन-प्रतिदिन आर्यसमाज की दिन दुगुनी और रात चौगुनी उन्नति हो रही है और सनातनधर्म के सिद्धान्तों की चारों ओर अर्थी निकलती दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु इतना होने पर भी यदि पौराणिक पोपमण्डल को अपने भाग्य की परीक्षा करने की इच्छा हो तो हम विश्वभर के पौराणिक पोपमण्डल को डबल चैलैञ्ज देते हैं कि वे जब भी और जिस स्थान पर चाहें निम्न शर्तों पर आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ करके अपने भाग्य की परीक्षा कर सकते हैं—

शास्त्रार्थ की शर्तें

१. **विषय**—चूँकि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों और अष्टादश पुराणों में कई-एक विषय ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध में आर्यसमाज और सनातनधर्म का मत एक है, अतः शास्त्रार्थों का विषय ऐसा होना चाहिए जिसमें आर्यसमाज और सनातनधर्म का विरोध हो, जैसे—मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, मृतकश्राद्ध, वर्णव्यवस्था, विधवा-विवाह आदि-आदि, परन्तु यदि सनातनधर्म को ग्रन्थों पर ही शास्त्रार्थ करने की इच्छा हो तो हम इसके लिए भी तैयार हैं, परन्तु इस स्थिति में विषय एकपक्षीय नहीं होगा, अपितु उभयपक्षीय विषय यह होगा कि "स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध हैं या अष्टादश पुराण।"

२. **स्थान**—शास्त्रार्थ के लिए स्थान आर्यसमाज मन्दिर या सनातनधर्म मन्दिर अथवा कोई ऐसा साझे का स्थान जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करें।

३. **अध्यक्ष**—जिसके स्थान पर शास्त्रार्थ होगा, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था का उत्तरदायी वही होता है, इसलिए मुख्य अध्यक्ष उसी का होगा। हाँ, विरोधी पक्ष भी अपनी ओर से एक अध्यक्ष नियुक्त कर सकेगा जोकि मुख्य अध्यक्ष की सम्मति से प्रबन्ध में भाग ले सकेगा। यदि स्थान साझा होगा तो शान्ति का उत्तरदायित्व दोनों पक्षों पर होगा और अध्यक्ष भी एक सर्वसम्मति से और दो सहायक अपने-अपने पक्ष के होंगे।

४. अध्यक्षों का कार्य केवल व्यवस्था स्थिर रखना और समय आदि देने का होगा। वे शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सम्मति प्रकट करने के अधिकारी नहीं होंगे।

५. **समय**—दोनों पक्षों की सहमति से दोनों पक्षों को बराबर, कम-से-कम दस मिनट दिये जाएँगे।

६. पक्षों में से शास्त्रार्थकर्त्ता के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति बोलने का अधिकारी नहीं होगा और शास्त्रार्थ करनेवालों में से भी एक पक्ष दूसरे पक्ष के भाषण के मध्य में न बोल सकेगा।

७. शास्त्रार्थ एक विषय पर एक दिन में केवल दो घण्टे होगा।

८. जो पक्ष जिन पुस्तकों को प्रामाणिक धर्मपुस्तक मानता है, उसके लिए उन पुस्तकों में से प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकेगा।

९. कोई पक्ष शास्त्रार्थ के मध्य में किसी प्रकार का जयघोष न लगा सकेगा और न

ताली बजा सकेगा।

१०. जो पक्ष अपने भाषण से शास्त्रार्थ आरम्भ करेगा, अन्तिम भाषण उसके विरोधी पक्ष का होगा जिसपर शास्त्रार्थ समाप्त होकर धन्यवाद की प्रक्रिया पूर्ण की जाएगी।

११. जो पक्ष अन्तिम भाषण सुने बिना भाग जाएगा उसकी पराजय स्वीकार की जाएगी।

१२. इन शर्तों में इस प्रकार की अन्य शर्तों को सम्मिलित किया जा सकता है जोकि आवश्यक और पक्षपातशून्य हों।

क्या हम आशा करें कि पौराणिक पोपमण्डल हमारे इस चैलैञ्ज को स्वीकार करके अतिशीघ्र अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए शास्त्रार्थ-समर में आने का साहस दिखाएगा?

सनातनधर्म की अन्त्येष्टि

यद्यपि हमने पौराणिक पोपमण्डल को शास्त्रार्थ के लिए डबल चैलैञ्ज दे दिया है, परन्तु हमें आशा नहीं कि वे हमारे चैलैञ्ज को स्वीकार करे, क्योंकि अब बेचारे सनातनधर्म के वे दिन ही नहीं हैं कि वह शास्त्रार्थ कर सके। अब तो सनातनधर्म की अन्त्येष्टि के दिन हैं, क्योंकि पुराणों में यही लिखा है कि कलियुग में सनातनधर्म समाप्त हो जाएगा और लक्षण भी आजकल ऐसे ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। देखिए, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ९० में नन्दजी ने श्रीकृष्ण से पूछा—

तीर्थान्येतानि सर्वाणि तिष्ठन्त्येव कियद्दिनम्।
साधवो ग्राम्यदेवाश्च शास्त्राण्येतानि वत्सक॥ ३१॥

अर्थ—हे पुत्र! ये सारे तीर्थ, साधु लोग, ग्राम के देवता और शास्त्र कितने दिनों तक इस संसार में और ठहरेंगे, अर्थात् यह सनातनधर्म कब समाप्त होगा?

इसपर कृष्णजी महाराज ने उत्तर दिया—

कलौ दश सहस्त्राणि हरिस्तिष्ठति मेदिनीम्। देवानां प्रतिमा पूज्या शास्त्राणि च पुराणकम्॥ ३२॥
तदर्धमपि तीर्थानि गङ्गादीनि सुनिश्चितम्। तदर्धं ग्रामदेवाश्च वेदाश्च विदुषामपि॥ ३३॥
अधर्मः परिपूर्णश्च तदन्ते च कलौ पितः। एकवर्णा भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव च॥ ३४॥
सर्वैः सार्धं च सर्वेषां भक्षणं नियमच्युतम्॥ ३७॥
राजानश्चापि म्लेच्छाश्च यवना धर्मनिन्दकाः॥ ४९॥
वृद्धाङ्गुष्ठसमा लोका वृक्षाः शाकसमास्तथा॥ ५४॥
तालानां नारिकेलाणां पनसानां तथैव च। फलानि सर्षपाण्येव तत्क्षुद्रं च ततः परम्॥ ५५॥

—ब्रह्म० श्रीकृष्ण० ९०। ३१-३४, ३७, ४९, ५४, ५५

अर्थ—कलियुग में हरि अर्थात् विष्णु इस पृथिवी पर दस सहस्त्र वर्ष तक रहते हैं और इतने ही दिनों तक देवताओं की मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं और शास्त्र तथा पुराण स्थिर रहते हैं॥३२॥

यह निश्चित बात है कि इसके आधे समय अर्थात् पाँच सहस्त्र वर्षों तक गङ्गा आदि तीर्थ ठहरते हैं और उसके भी आधे अर्थात् ढाई सहस्त्र वर्ष तक ग्राम के देवता और विद्वानों के वेद स्थिर रहते हैं॥३३॥

हे पिताजी! तत्पश्चात् कलियुग में अधर्म भरपूर हो जाता है, उस समय चारों ही वर्ण के लोग एक वर्ण के हो जाएँगे॥३४॥ सबका सबके साथ अनियमित खाना-पीना हो जाएगा॥३७॥ धर्म की निन्दा करनेवाले यवन और म्लेच्छ राजा होंगे॥५०॥ लोगों के शरीर

अंगूठे के समान छोटे हो जाएँगे और सारे वृक्ष साग के समान हो जाएँगे। ताड़, नारियल और चीड़ के वृक्ष भी वैसे ही—साग के समान हो जाएँगे और सब फल सरसों के दाने के समान हो जाएँगे और इससे आगे-आगे और भी छोटे होते जाएँगे ॥५४-५५॥

पाठक महाशय! श्रीकृष्णजी के कथनानुसार अब पौराणिक पोपमण्डल के धर्म की समाप्ति हो चुकी है और इसकी अन्त्येष्टि स्वयं सनातनधर्मियों के हाथों ही की जा रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने जीवन में पौराणिक सनातनधर्म ने हमारा भरपेट विरोध किया, परन्तु इन सारे विरोधों की चर्चा विरोधी के जीवन में ही शोभा पाती है। अब जबकि सनातनधर्म की मृत्यु होकर उसकी अन्त्येष्टि हो रही है, तो हमारे साथ उसके सब विरोध भी समाप्त हैं। अब हमारा काम उसका विरोध करना नहीं, अपितु अब तो हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि "परमात्मा इसकी आत्मा को सद्गति प्रदान करें और इसके सम्बन्धियों को धैर्य प्रदान करें।" इस प्रार्थना के पश्चात् हम अन्त में कुछ आहुतियाँ मृतक की चिता में डालना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और इसके पश्चात् सनातनधर्म के प्रति हमारा कर्त्तव्य समाप्त हो चुका। यदि पौराणिक पोपमण्डल हमारी सहायता की आवश्यकता अनुभव करेगा और हमें निमन्त्रण देगा तो हम सनातनधर्म के 'अस्थि-सञ्चय' में उनकी पूरी सहायता करेंगे।

अब हम कुछ आहुतियाँ मृतक की चिता में देने के लिए मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। पाठक महाशय अन्तिम 'स्वाहा' शब्द एक-साथ बोलें और आहुतियाँ डालते जाएँ—

ओं कलियुगाय स्वाहा। —कलियुग के लिए स्वाहा।
ओं हरये स्वाहा। —विष्णु के लिए स्वाहा।
ओं देवानां प्रतिमायै स्वाहा। —देवताओं की मूर्त्ति के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकशास्त्रेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक शास्त्रों के लिए स्वाहा।
ओं पुराणेभ्यः स्वाहा। —पुराणों के लिए स्वाहा।
ओं गङ्गादितीर्थेभ्यः स्वाहा। —गङ्गादि तीर्थों के लिए स्वाहा।
ओं ग्रामदेवेभ्यः स्वाहा। —ग्राम के देवताओं (गूगामसानी आदि) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवेदेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक वेदों (शाखा आदि) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकविद्वद्भ्यः स्वाहा। —पौराणिक विद्वान् (वाममार्गी पोपों) के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकधर्माय स्वाहा। —पौराणिक सनातनधर्म के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवर्णेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक जन्ममूलक वर्णों के लिए स्वाहा।
ओं स्थानभोजनस्पर्शतायै स्वाहा।
—सभा, कूप, पाठशाला, खान-पान छूतछात के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकराज्ञे स्वाहा। —पौराणिक राज=अन्धपरम्परा के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकशरीरेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक शरीरों के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकवृक्षेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक वृक्षों के लिए स्वाहा।
ओं पौराणिकफलेभ्यः स्वाहा। —पौराणिक फलों के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा। —सनातनधर्म की समाप्ति के लिए स्वाहा।

ओं शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

आ

इ

उ

ऋ

ए

ओ

औ

क

ह

—:o:—